रश्मिलोचनोपेतः

ध्वन्यालोकः

[प्रथम उद्योतः]

रश्मिकृत
आशा लता

प्रथम संस्करण] १९५९ [मूल्य ५ रु०

प्रकाशक :—
श्री काशीनाथ
१४ बैंक रोड
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण ५०० प्रतियाँ

मुद्रक :—
गोपाल कृष्ण अग्रवाले
हिन्दुस्तान प्रेस,
इलाहाबाद

समर्पण

पूज्य बाबू जी को

श्रद्धा-भक्ति सहित

अपनी बात

संस्कृत के प्रति अनुराग पूज्य पिता की प्रेरणा से मिला। बी० ए० तक संस्कृत पढ़ने के पश्चात् एम० ए० अँग्रेजी में किया किन्तु संस्कृत का संस्कार अतिशय प्रबल बना रहा, और अंग्रेजी के अध्ययन के पश्चात् पुनः संस्कृत का विस्तृत अध्ययन करने की भावना जगी। अतः संस्कृत में भी एम० ए० किया।

एम० ए० द्वितीय वर्ष में संस्कृत-साहित्य का विशेष अध्ययन करना पड़ा। लोचन-सहित 'ध्वन्यालोक' भी एक पाठ्य-ग्रन्थ था। अभिनव की विद्वत्ता, सहृदयता, एवं तत्त्व-ग्राहिणी सूक्ष्म दृष्टि के सम्मुख साहित्य के सभी आचार्य नत-मस्तक दिखलाई पड़े। किन्तु दुर्भाग्य से 'लोचन' का कोई हिन्दी अनुवाद सुलभ नहीं था। अतः उसी समय श्री गुरु-मुख से उनके व्याख्यानों को सुनते समय नोट्स बनाती जाती थी। बाद में ये नोट्स उन्हें दिखा कर उनका साधुवाद एवं आशीर्वाद भी प्राप्त किया। वही सब पुस्तक के रूप में विद्वान् पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है। इसकी परिचायिका भी उन्हीं व्याख्यानों में से है।

इस अनुवाद को लिखते समय जिन ग्रन्थ-रत्नों की सहायता लेनी पड़ी मैं उन सबके प्रति हृदय से आभार प्रकट करती हूँ। इसके प्रकाशन में गुरु-जनों से प्रोत्साहन मिला, किन्तु उन्हें तो धन्यवाद देना भी धृष्टता होगी।

अन्त में 'हिन्दुस्तान-प्रेस' के प्रति भी आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने मुद्रण कार्य को इतनी शीघ्रता से सम्पन्न किया।

— अपने अनुसन्धान-कार्य में व्यग्र रहने के कारण यदि इसमें कुछ त्रुटियाँ रह गई हों तो सहृदय पाठक क्षमा करेंगे।

प्रयाग
गुरु-पूर्णिमा, संवत् २०१६

आशा लता

परिचायिका

"ध्वनिनातिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना ।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः ॥"—राजशेखर

ध्वन्यालोक, संस्कृत साहित्य-शास्त्र में युगप्रवर्त्तक ग्रन्थ माना जाता है। पण्डितराज जगन्नाथ के शब्दों में—'ध्वनिकृतामालङ्कारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात् ।"

यह ग्रन्थ ध्वन्यालोक, काव्यालोक, सहृदयालोक आदि अनेक नामों से आचार्यों द्वारा उल्लिखित हुआ है। व्याकरण-शास्त्र में पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा वेदान्त दर्शन में बादरायण-सूत्रों का जो स्थान है साहित्यशास्त्र में वही स्थान ध्वन्यालोक का है। इस महान् ग्रन्थ ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसी का समर्थन, व्याख्यान एवं अनुसरण बाद में अभिनवगुप्त मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, तथा पण्डिराज जगन्नाथ आदि धुरीण साहित्य-मनीषियों ने किया। इस ग्रन्थ-रत्न ने पूर्व-प्रचलित गुण-रीति-अलङ्कार वादों का काव्यविवेचना में उचित मूल्याङ्कन कर काव्य की आत्मा-रूप ध्वनि की प्रतिष्ठा की तथा काव्य के वास्तविक सौन्दर्य को परखने की चिरसत्य दृष्टि दी। महाकवि के हृदय को उसके काव्य में कैसे पहचाना जा सकता है इसका मार्ग बताया। वस्तुतः इस ध्वनि के आलोक के बिना काव्य-विषयक भ्रान्ति की तमिस्रा कभी नष्ट न होती।

चार उद्योतों में विभक्त इस ग्रन्थ में तीन भाग हैं। १. कारिका २. वृत्ति तथा ३. उदाहरण।

कुछ सङ्ग्रह, परिकर या संक्षेप श्लोक भी हैं जो वृत्ति के ही अन्तर्गत माने जाएँगे, क्योंकि वृत्ति में कही गई बातें ही कभी कभी अन्त में पद्यबद्ध कर दी जाती हैं, जिससे मूल कारिका और विशदरूप से व्याख्यात हो जाती है—"परिकरार्थं कारिकार्थस्याधिकावापं कर्तुं श्लोकः परिकरश्लोकः" (लोचन)। अब प्रश्न उठता है कि क्या तीनों भागों का रचयिता एक ही व्यक्ति है, जैसे काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, काव्यप्रकाश तथा काव्यानुशासन आदि के, अथवा कारिका का कोई एक, और वृत्ति एवं उदाहरण का कोई दूसरा। इस विषय में विद्वानों के दो मत हैं। म० म० डॉ० कुप्पूस्वामी शास्त्री, डॉ० ए० शङ्करन्, डॉ० शतकरी मुकर्जी, डॉ० के० सी० पाण्डेय, तथा डॉ० के० कृष्णमूर्ति आदि विद्वानों ने कारिकाकार तथा वृत्तिकार को एक ही व्यक्ति माना है, किन्तु डॉ० बुह्लर, प्रो० जैकोबी, डॉ० कीथ, म०

म० डॉ० पी० वी० कारो, डॉ० एस० के० दे, प्रो० एस० पी० भट्टाचार्य आदि धुरीणों ने दोनों को दो पृथक् व्यक्ति सिद्ध किया है।

परवर्ती प्रतिहारेन्दुराज, कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ आदि आचार्यों ने इस प्रश्न के प्रति अपनी कोई जागरूकता न दिखाई। वे केवल ध्वनिकार शब्द का प्रयोग करते हैं, जो कारिका तथा वृत्ति आदि के रचयिता के लिए समान रूप से प्रयुक्त होता है। ये विद्वान् न ध्वन्यालोक के टीकाकार थे, न आनन्दवर्धन के विषय में ही कोई जिज्ञासापूर्ण निबन्ध लिख रहे थे, अतः इनकी उक्तियों का, कारिका एवं वृत्ति कर्त्ता के ऐक्य या पार्थक्य के विषय में, कोई मूल्य नहीं। महिमभट्ट ने, जिन्होंने ध्वनिकार के ही वचनों का विवेचन किया है, कारिका और वृत्ति के कर्ता को एक ही व्यक्ति माना है "किन्तु तमर्थमिति तच्छब्देनानन्तर्यात् प्रतीयमानस्यार्थस्य परामर्शे सति पारिशेष्यादर्थो वाच्यविशेष इति स्वयं विवृतत्वाच्चार्थशब्दोवाच्यविषय एव विज्ञायते।" किन्तु इन्हें भी सम्भवतः ध्वनिपरम्परा का ठीक ज्ञान नहीं था, क्योंकि ये स्वयं तार्किक थे। कुछ अपने मनोविनोद के लिए लिख गए। वस्तुतः अभिनवगुप्त की लोचन-टीका में यत्र-तत्र ऐसी उक्तियाँ मिलती हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्वन्यालोककार के करीब १५० वर्ष पश्चात् होने वाले लोचनकार को, ध्वनि-परम्परा के विद्यार्थी होने के कारण, यह बात प्रामाणिक ढंग से ज्ञात थी कि कारिका और वृत्ति के रचयिता दो पृथक् व्यक्ति थे, और इस तथ्य को प्रकाशित करने के लिए तथा सम्भवतः अपने समय में प्रचलित भ्रान्ति को दूर करने के लिए, उन्होंने स्थान-स्थान पर प्रयत्नपूर्वक सिद्ध किया है कि अमुक बात कारिकाकार की है और उस पर इतना वृत्तिकार ने कहा है; अथवा अमुक बात कारिकाकार ने तो नहीं कही थी, वृत्तिकार ने अपनी ओर से कही है आदि। वे कारिका के रचयिता को कारिकाकार (-कृत्) अथवा अस्मन्मूलग्रन्थकृत् आदि कहते हैं; और वृत्ति-रचयिता को वृत्तिकार (-कृत्), शास्त्रकार, ग्रन्थकार आदि रूप से उल्लिखित करते हैं। यद्यपि अभिनव ने भी अपनी नाट्यशास्त्र की टीका 'भारती' में, तथा 'लोचन' में भी, कुछ ऐसे वाक्य कहे हैं जिससे वे कारिका, वृत्ति दोनों के रचयिता को एक ही व्यक्ति मानते समझ पड़ते हैं, किन्तु वे उक्तियाँ उनकी सामान्यरूप से प्रचलित कथन का ही अनुसरण-रूप मानी जायेंगी, सप्रयोजन किसी मत को कहना नहीं। अस्तु।

म० म० डॉ० पी० वी० कारो ने 'लोचन' से उन उन वाक्यों को उद्धृत किया है जिनमें अभिनव ने अतिशय स्पष्ट रूप से कारिकाकार और वृत्तिकार को दो पृथक् व्यक्ति कहा है। वे वाक्य कारो महोदय के अनुसार ही यहाँ उद्धृत किए जाते हैं—

१—अतएव मूलकारिका साक्षात्तन्निराकरणार्था न श्रूयते। वृत्तिकृत्तु निराकृतमपि प्रमेयसङ्ख्यापूरणाय कण्ठेन तत्पक्षमनूद्य निराकरोति येपीत्यादिना······तेनात्र प्रथमोद्योते ध्वनेः सामान्यलक्षणमेव कारिकाकारेण कृतम्। द्वितीयोद्योते कारिकाकारोऽवान्तरविभागं विशेषलक्षणं च विदधदनुवादमुखेन मूलविभागं द्विविधं सूचितवान्। तदाशयानुसारेण वृत्तिकृदत्रैवोद्योते मूलविभागमवोचत्। इत्यादि।

२—न चैतन्मयोक्तम्, अपितु कारिकाकाराभिप्रायेणेत्याह तत्रेति। ······भवति मूलतो द्विभेदत्वं कारिकाकारस्यापि संमतमेवेति भावः।

३—उक्तमेव ध्वनिरूपं तदाभासाविवेकहेतुतया कारिकाकारोऽनुवदतीत्यभिप्रायेण वृत्तिकृदुपस्कारं ददाति।

४—एतत्तावत्त्रिभेदत्वं न कारिकाकारेण कृतं वृत्तिकारेण तु दर्शितं न चेदानीं वृत्तिकारो भेदप्रकटनं करोति। ततश्चेदं कृतमिदं क्रियते इति कर्तृभेदे का सङ्गतिः ?

५—वृत्तिकारेण पूर्वं व्यतिरेक उक्तः। न च सर्वथा न कर्तव्योऽपितु बीभत्सादौ कर्तव्य एवेति पश्चादन्वयः। वृत्तिकारेण तु अन्वयपूर्वको व्यतिरेक इति शैलीमनुसर्तुमन्वयः पूर्वमुपात्तः।

६—वृत्ति में आए 'प्रतिपादितमेवैषामालम्बनम्' वाक्य पर 'लोचन' की उक्ति 'अस्मन्मूलग्रन्थकृतेत्यर्थः।'

७—वृत्तिकार के एवमादौ च विषये यथौचित्यत्यागस्तथा दर्शितमेवाग्रे' वाक्य पर 'लोचन' की उक्ति 'दर्शितमेवेति कारिकाकारेणेति भूतप्रत्ययः'। (अर्थात् यदि कारिका तथा वृत्ति एक ही व्यक्ति की कृति होती तो 'दर्शितं' इस भूतकाल के स्थान पर भविष्यकाल की क्रिया प्रयुक्त की जाती—क्योंकि वह बात तो आगे दिखाई जायगी। और वृत्तिगत किसी आगे की बात को वृत्तिकार भविष्य में ही कहते हैं। किन्तु कारिका तो पूर्व से स्थित किसी अन्य आचार्य की कृति थी, अतः वृत्तिकार ने भूतकाल की क्रिया 'दर्शितं' प्रयुक्त की।)

८—यद्यप्यर्थानन्त्यमात्रे हेतुर्वृत्तिकारेणोक्तस्तथापि कारिकाकारेण नोक्त इति। इत्यादि (द्रष्टव्य—म० म० डॉ० काणे का History of Sanskrit Poetics पृष्ठ १५८-५९)

वृत्तिकार का नाम आनन्दवर्धन था इसमें कोई सन्देह नहीं, जैसा कि वृत्तिगत इस श्लोक से स्पष्ट है।

सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्त-
कल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत्।

तद्व्याकरोत् सहृदयोदयलाभहेतो-
रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः ।

और जैसा कि अभिनव ने प्रथम कारिका की वृत्ति में आए 'सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठाम्' पर 'लोचन' में कहा है—'आनन्द इति च ग्रन्थकृतो नाम तेन स एवानन्दवर्धनाचार्य एतच्छास्त्रद्वारेण सहृदयहृदयेषु प्रतिष्ठां लभताम्' इत्यादि। किन्तु कारिकाकार के नाम के विषय में कोई निश्चित् प्रमाण नहीं मिलता। मुकुलभट्ट ने, जिनका समय अभिनव से करीब १०० वर्ष पूर्व माना जाता है, अपनी 'अभिधावृत्तिमातृका' में ध्वनि को 'सहृदय' द्वारा प्रवर्तित कहा है।

१—"लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम्।" (पृ० २१)

२—"तथाहि तत्र विवक्षितान्यपरता सहृदयैः काव्यवर्त्मनि निरूपिता।" (पृष्ठ १६)। इसी प्रकार प्रतीहारेन्दुराज ने भी—"काव्यजीवितभूतः कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यञ्जकत्वभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहितः।" इत्यादि कह कर ध्वनिप्रवर्तक का नाम सहृदय माना है। इन आचार्यों ने तो वास्तव में कारिका तथा वृत्ति दोनों के रचयिता को 'सहृदय' ही कहा है। स्वयं कारिकाकार ने प्रथम कारिका के अन्त में 'सहृदयमनःप्रीति' के लिए ही ध्वनि के स्वरूप का निरूपण करना अभीष्ट बताया है। अतः 'सहृदय' उनका नाम नहीं समझ पड़ता, अपितु काश्मीर में ऐसे काव्य-समालोचकों का कोई सङ्घ रहा होगा, जो अपने को 'सहृदय' कहते रहे होंगे और पहले तो कारिकाकार, बाद में आनन्दवर्धन भी उसी सङ्घ या गोष्ठी के सदस्य रहे होंगे। [वैसे तो वामन भी 'सहृदय' शब्द का इसी अर्थ में उल्लेख करते हैं—तथा चाहुः—

"वचसि यमधिगम्य स्यन्दते वाचकश्री-
र्वितथमपि तथात्वं यत्र वस्तु प्रयाति।
उदयति स हि तादृक् क्वापि वैदर्भरीतौ-
सहृदयहृदयानां रञ्जकः कोऽपि पाकः।"]

बहुत सम्भव है कि आनन्दवर्धन उन कारिकाकार के शिष्य ही रहे हों—जैसे रुय्यक के मङ्खक थे। बाद में कारिकाओं पर आनन्दवर्धन की वृत्ति इतनी प्रधान बन गई कि उनके सम्मुख कारिकाओं का कोई मूल्य ही न रहा—सचमुच केवल ध्वनि-कारिकाओं से ध्वनि-विषय में कुछ भी नहीं जाना जा सकता है। अतः वृत्तिकार ही वास्तविक ध्वनिकार कहे जाने लगे, और धीरे धीरे तो कारिकाकार का नाम ही विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गया। आनन्दवर्धन ही कारिका और वृत्ति दोनों के कर्त्ता धर्त्ता माने जाने लगे। यहाँ किन्हीं संस्करणों में वृत्ति में छपे

—"इति काव्यार्थविवेकोयोऽयं चेतश्चमत्कृतिविधायी।
सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्यः।"

इस श्लोक के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आनन्दवर्धन ने स्वयं इस ध्वनिशास्त्र को स्वोपज्ञ बताया है, अतः वे ही कारिका तथा वृत्ति दोनों के रचयिता थे। किन्तु म. म. काणे ने इसे प्रक्षिप्त श्लोक माना है। ध्वन्यालोक के सभी संस्करणों में तो यह मिलता भी नहीं है। सम्भवतः यह श्लोक किसी ऐक्यवादी के मस्तिष्क की चाल है।

आनन्दवर्धन का समय निश्चित् ही-सा है। ये काश्मीर के महाराज अवन्तिवर्मा के आश्रित कवि थे, तथा मुक्ताकण, शिवस्वामी एवं रत्नाकर के समकालीन थे—

"मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथांरत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः।" (राजतरङ्गिणी ५/३४)

अवन्तिवर्मा का समय ८५५ से ८८३ ईसवी तक माना जाता है। आनन्दवर्धन ने उद्भट का उल्लेख किया है, अतः वे उद्भट के, अर्थात् ८०० ईसवी के बाद ही हुए होंगे तथा राजशेखर ने इनका उल्लेख किया है, अतः राजशेखर के अर्थात् ६०० ईसवी के पूर्व हुए होंगे। इस प्रकार आनन्दवर्धन के साहित्यक जीवन का समय ८६० ईसवी से ८९० ई० के बीच पड़ता है। लोचनकार ने मनोरथ को आनन्दवर्धन का समकालीन कहा है। मनोरथ ललितापीड का समकालीन था, जिनका समय ८००—८२५ ईसवी माना गया है। सम्भवतः कारिकाकार के समकालीन मनोरथ को अभिनव ने आनन्दवर्धन का समकालीन मान लिया।

आनन्दवर्धन के पिता का नाम नोण या नोणोपाध्याय था, जैसा कि 'इण्डिया ऑफ़िस लाइब्रेरी' में सुरक्षित ध्वन्यालोक की पाण्डुलिपि के तृतीय उद्योत के अन्त में उल्लिखित है। अपने 'देवीशतक' में आनन्दवर्धन ने भी अपने को 'नोणसुत' कहा है—

"देव्या स्वप्नोद्गमादिष्टदेवीशतकसंज्ञया
देशितानुपमामाधादतो नोणसुतो नुतिम्॥"

ध्वन्यालोक के अतिरिक्त आनन्दवर्धन ने अनेक ग्रन्थ और रचे। 'अर्जुन चरित', 'विषमबाणलीला', तथा 'देवीशतक' उनके काव्य थे। 'धर्मोत्तमाविवृति' धर्मकीर्ति की 'प्रमाणविनिश्चय' ग्रन्थ की टीका थी। 'तत्त्वालोक' वेदान्तदर्शन-विषयक ग्रन्थ था। 'देवीशतक' में आनन्दवर्धन की चित्र-काव्य रचना-योग्यता का सुन्दर नमूना मिलता है। ध्वन्यालोक में जो आचार्य यह कहे कि—"इदानीन्तनानां तु न्याय्ये काव्यनयव्यवस्थापने क्रियमाणे नास्त्येव ध्वनिव्यतिरिक्तः काव्यप्रकारः यतः

परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते।" — वही 'देवीशतक' ऐसा चित्रबन्धों का जाल खड़ा करे--यह सचमुच विचारणीय है। सम्भवतः 'देवीशतक' उनकी बहुत पूर्व की रचना थी। ध्वनिविषयक सिद्धान्तनिष्ठा बहुत बाद में आई, अथवा, ध्वनि की उत्तमता बताने के साथ वे यह भी दिखाना चाहते थे कि मैं चित्र काव्य की कल्पना में कम प्रौढ नहीं हूँ, किन्तु वह काव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें ध्वनि अर्थ प्रधान न हो कर चित्रों की रचना-चातुरी-प्रदर्शन ही प्रधान हो जाता है। अस्तु। किन्तु इसके लिए आनन्दवर्धन पर महिमभट्ट ने मीठा वाग्-बाण मारा है।--

"स्वकृतिष्वयन्त्रितः कथमनुशिष्यादयमन्यमिति न वाच्यम्
वारयतिभिषगपथ्यादितरान् स्वयमाचरन्नपि तत् ॥"

(व्यक्तिविवेक)

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में ध्वनि के विरुद्ध सम्भाव्य आपत्तियों का उत्तर देते हुए ध्वनि की स्थापना तथा व्यञ्जना शक्ति का विवेचन किया है, और अभिधा से उसकी श्रेष्ठता बताई है। फिर ध्वनिकाव्य के भेद, ध्वनि की व्यापकता अर्थात् प्रकृति, प्रत्यय से ले कर महाकाव्यों तक में उसकी सत्ता का विवेचन किया गया है। गुण, रीति अलङ्कारों के साथ ध्वनि का उचित सम्बन्ध बताया गया है। रस का विरोधाविरोध भी विचारा गया है और रस-परिपाक पर ज़ोर दिया गया है। आनन्दवर्धन ने शान्तरस को परम रसानन्द माना है। अन्त में आचार्य ने कवि की प्रतिभा शक्ति का महत्त्व बताया है।

आनन्दवर्धन ने अपने जितने पद्यों का उद्धरण दिया है वे सभी टकसाली हैं, उनसे उनकी सहृदयता के साथ काव्य-प्रतिभा का भी उत्कृष्ट नमूना मिलता है। उदाहरणार्थ उनका शान्तरस-प्रधान यह श्लोक पर्याप्त होगा—

"या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां न वा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ॥"

ध्वन्यालोक पर अभिनव के 'लोचन' के पूर्व एक 'चन्द्रिका' टीका थी जिसके रचयिता को अभिनव ने अपना 'पूर्व वंश्य' तथा 'निजपूर्वज-सगोत्रज' कहा है। सम्भवतः चन्द्रिकाकार (उनका नाम ज्ञात नहीं) अभिनव के ही पूर्वजों में से रहे हों। भट्टनायक ने भी 'लोचन' के पूर्व 'हृदयदर्पण' नामक ध्वन्यालोक की टीका की थी, जो वस्तुतः ध्वनिसिद्धान्तों को ध्वस्त करने के अभिप्राय से थी और सम्भवतः महिमभट्ट के 'व्यक्ति-

विवेक' की भाँति थी। देखा तो उसे महिमभट्ट ने भी नहीं था ("अदृष्टदर्पणा मम धीः") किन्तु लोचन के उद्धरणों से उसका पता लगता है।

अभिनव के 'लोचन' का साहित्य-शास्त्र में वही सम्मान एवं स्थान है जो 'अष्टाध्यायी' पर पतञ्जलि के महाभाष्य का तथा 'ब्रह्मसूत्र' पर शाङ्कर भाष्य का। अभिनव के साहित्य (विशेषतया ध्वनिविषयक)-गुरु भट्टेन्दुराज थे, जो उद्भट के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज से भिन्न ही थे। अभिनव परममाहेश्वर दर्शन-शास्त्र के पारंगत मनीषी, तलस्पर्शी प्रतिभावाले समालोचक एवं अद्वितीय-काव्य-प्रतिभावाले पुरुष थे। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र उन्हें पा कर धन्य हो गया। उसकी सम्पन्नता का सारा श्रेय अभिनव को है। उनके अनेक ग्रन्थों से उनके वंश, गुरु, आदि के विषय में पर्याप्त ज्ञान होता है। अभिनव के पिता का नाम नृसिंहगुप्त अथवा चुखल था, तथा माता का विमला या विमलकला था। अभिनव के छोटे भाई का नाम मनोरथ-गुप्त था जिसके लिए उन्होंने 'परात्रिंशिका' की टीका लिखी थी। सम्भवतः अभिनव समस्त जीवन पुत्र-कलत्र से रहित नैष्ठिक ब्रह्मचारी रूप से ही भगवान् शिव की आराधना करते रहे। उन्होंने अनेक गुरुओं से अनेक प्रकार का ज्ञान प्राप्त किया था, जैसा कि उनकी 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी' के इन पदों से प्रमाणित है —

"तज्जन्मदेहपदभाक्पदवाक्यमानसंस्कारसंस्कृतमतिः परमेशशक्तेः।
सामर्थ्यतः शिवपदाम्बुजभक्तिभागी दारात्मजप्रभृतिबन्धुकथामनाप्तः॥
नानागुरुप्रवरपादनिपातजातसंवित्सरोरुहविकासनिवेशितश्रीः"। इत्यादि।

उन्होंने तन्त्र, स्तोत्र, नाट्यशास्त्र, साहित्यशास्त्र, अद्वैत-शैवदर्शन आदि विषयों पर अनुपम ग्रन्थरत्न लिखे जो विशेषतया भाष्यरूप ही हैं। उनकी भरत के नाट्यशास्त्र पर 'अभिनवभारती', ध्वन्यालोक पर 'लोचन', प्रत्यभिज्ञाशास्त्र पर 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी' (लघुवृत्ति) एवं 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी' (बृहती वृत्ति) तथा तन्त्र-शास्त्र पर 'तन्त्रालोक' एवं 'तन्त्रालोकसार', उन-उन विषयों के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माने जाते हैं। अभिनव के साहित्यगुरु भट्टेन्दुराज थे, नाट्यशास्त्र के भट्टतौत, शैवदर्शन के लक्ष्मणगुप्त तथा तन्त्रशास्त्र के शम्भुनाथ।

काश्मीर में प्रचलित किंवदन्ती के अनुसार कहा जाता है कि अभिनव अपने १२०० शिष्यों के साथ स्वरचित भैरव-स्तोत्र का पाठ करते हुए किसी गुफ़ा में घुसे और फिर बाहर न निकले। डॉ० ग्रियर्सन ने उस गुफ़ा को श्रीनगर से दक्षिण-पश्चिम १३ मील की दूरी पर स्थित बीरू (बहुरूप) की गुफ़ा बताया है।

अभिनव ने अपने ग्रन्थों की रचना का समय अन्त में स्वयं लिख दिया है, जिनसे उनके जीवन-समय का प्रायः ठीक अन्दाज़ लग जाता है। उनका समय ९५० ईसवी से १०२० ईसवी तक आसानी से माना जा सकता है। क्षेमेन्द्र का साहित्यिक जीवन १०४० से १०७० ईसवी तक माना गया है। वे अभिनव के शिष्य थे, जैसा कि क्षेमेन्द्र ने स्वयं कहा है—"श्रुत्वाऽभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः। आचार्य-शेखरमणेर्विद्याविवृतिकारिणः। (बृ० क० मञ्जरी)।

उन्होंने अभिनव से उनकी प्रौढावस्था में विद्याध्ययन किया होगा अतः उनके आचार्य-शेखरमणि का पूर्वोक्त जीवनकाल (अर्थात् ९५० से १०२० तक के आसपास) ठीक ही समझ पड़ता है।

आशा लता

—०—

श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यप्रणीतो—

ध्वन्यालोकः

प्रथम उद्योतः

श्रीमदाचार्य्याभिनवगुप्तकृतं लोचनम्

श्री भारत्यै नमः

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां
जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च ।
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति त—
त्सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते ॥

भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवास—
हृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम् ।
यत्किञ्चिदप्यनुरणन्स्फुटयामि काव्या—
लोकं स्वलोचननियोजनया जनस्य ॥

रश्मि

श्री गुरवे नमः

पराद्यादिरूपेण विस्तारयन्ती सदाऽऽस्ते शुभं पावनं प्राणिनां या ।
अनिन्द्या सुनन्दाऽनवद्या सुवन्दा विदध्याच्छिवं सन्ततं मे शिवा सा ॥१॥
आलोकस्य यथा लोके लोचनं वाञ्छ्यते जनैः ।
लोचनस्य प्रयोगाय तथा रश्मिः प्रकल्प्यते ॥२॥

सरस्वती का वह तत्त्व (ध्वनि) सर्वश्रेष्ठ है—अर्थात् उसको प्रणाम है-जो कारणलेश के विना ही अपूर्व (अद्भुत) वस्तु का निर्माण करता है, पाषाण-तुल्य नीरस जगत् को अपने नवरसों के अतिशय (आधिक्य) से सरस बना देता है, और क्रम से (ध्वनिसम्बन्धिनी कवि की) प्रतिभा एवं वचन-भंगी के प्रसार (संयोग) से मनोरम हुए (उस 'अपूर्व' एवं 'सरस') संसार को प्रकाशित करता है, तथा जो कवि और सहृदयों को स्फुरित होता है । (अथवा कवि और सहृदय (समालोचक) नामवाले सरस्वती के तत्त्व; अथवा कवि अर्थात् मूलकारिकाकार और सहृदय अर्थात् आनन्दवर्द्धन)* ।

---

*'लोचन' की 'कौमुदी' टीका में उत्तुङ्गोदय ने इस श्लोक में प्रतिपादित सरस्वती-तत्त्व के तीन कार्यों को इस प्रकार प्रकट किया है—

अपूर्ववस्तुनिर्माणं सरसीकरणं तथा ।
सुभगत्वेन चाभासः स्तूयते तत् समुच्चितम् ॥

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः ।
त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ॥

लोचन

स्वयमव्युच्छिन्नपरमेश्वरनमस्कारसम्पत्तिचरितार्थोऽपि व्याख्यातृश्रोतृणामविघ्नेनाभीष्टव्याख्याश्रवणलक्षणफलसम्पत्तये समुचिताशीःप्रकटनद्वारेण परमेश्वरसांमुख्यं करोति वृत्तिकारः—स्वेच्छेति ।

मधुरिपोर्नखाः वो युष्मान्व्याख्यातृश्रोतृंस्त्रायन्ताम् , तेषामेव सम्बोधनयोग्यत्वात् ; सम्बोधनसारो हि युष्मदर्थः , त्राणं चाभीष्टलाभं प्रति साहायकाचरणं, तच्च तत्प्रतिद्वन्द्विविघ्नापसारणादिना भवतीति , इयदत्र त्राणं विवक्षितम् नित्योद्योगिनश्च भगवतोऽसम्मोहाध्यवसाययोगित्वेनोत्साहप्रतीतेर्वीररसो ध्वन्यते , नखानां प्रहरणत्वेन प्रहरणेन च रक्षणे कर्तव्ये नखानामव्यतिरिक्तत्वेन करणत्वात्सातिशयशक्तिता कर्तृत्वेन सूचिता , ध्वनितश्च परमेश्वरस्य व्यतिरिक्तकरणापेक्षाविरहः , मधुरिपोरित्यनेन तस्य सदैव जगत्-त्रासापसारणोद्यम उक्तः

रश्मि

जिसका शास्त्र गुरु-भट्टेन्दुराज के चरणकमलों (के सान्निध्य) में निवास करने के कारण मनोरम हो गया है, अभिनवगुप्त नाम वाला यह मैं कुछ थोड़ा सा ही अनुरणन (अनुवचन) करते हुए लोगों के प्रति, अपने 'लोचन' की नियोजना करके (अथव सावधान मन से) 'काव्यालोक' को विशद कर रहा हूँ ।

स्वयं निरन्तर परमेश्वर के प्रति आराधनातिशय से कृतार्थ होने पर भी, व्याख्याता और श्रोता की बाधारहित व्याख्यान और श्रवण रूपी अभीष्ट फल प्राप्ति के लिए समुचित आशीर्वाद के द्वारा वृत्तिकार (आनन्दवर्द्धन) परमेश्वर का ध्यान करते हैं—

मधुरिपु के नख आप व्याख्याताओं (अध्यापकों) और श्रोताओं (शिष्यों) की रक्षा करें । वक्ताओं और श्रोताओं को सम्बोधित इसलिए करते हैं क्योंकि वे ही (यहाँ प्रसङ्गतः) सम्बोधनीय हैं । युष्मद् का तात्पर्य सम्बोधनप्रधान ही होता है (अर्थात् जहाँ 'युष्मद्' होगा वहाँ सम्बोधन का अर्थ जरूर होगा) । और त्राण अभीष्टसिद्धि के लिए सहायता का करना है, जो उस (अभीष्टसिद्धि) के प्रतिबन्धक विघ्नों के नाश आदि से होता है यहाँ इसी प्रकार का 'त्राण' कहना अभीष्ट है । यहाँ (लोचन में 'नित्योद्योगिनश्च' में प्रयुक्त 'च' शब्द से तात्पर्य यह है कि न केवल वाच्यार्थ-मात्र ही निकलता है—वरन् यह रस-ध्वनि भी निकलती है कि) नित्योद्योगी भगवान् के सम्मोह—(मन की भ्रान्ति–) रहित

लोचन

कीदृशस्य मधुरिपोः ? स्वेच्छया केसरिणः, न तु कर्मपारतन्त्र्येण, नाप्यन्यदीयेच्छया, अपि तु विशिष्टदानवहननोचिततथाविधेच्छापरिग्रहौचित्यादेव स्वीकृतसिंहरूपस्येत्यर्थः; कीदृशा नखाः ? प्रपन्नानामार्तिं ये छिन्दन्ति; नखानां हि छेदकत्वमुचितम्; आर्तेः पुनश्छेद्यत्वं नखान्प्रत्यसम्भावनीयमपि तदीयानां नखानां स्वेच्छानिर्माणौचित्यात्सम्भाव्यत एवेति भावः, अथ वा त्रिजगत्कण्टको हिरण्यकशिपुर्विश्वस्योत्क्लेशकर इति स एव वस्तुतः प्रपन्नानां भगवदेकशरणानां जनानामार्तिकारित्वान्मूर्तैवार्तिस्तं विनाशयद्भिरार्तिरेवोच्छिन्ना भवतीति परमेश्वरस्य तस्यामप्य-

रश्मि

अध्यवसाय (निर्णयात्मक विवेक) युक्त होने से उनके 'उत्साह' (अवधानात्मिका कर्तुरुत्साहोऽध्यवसायिता) की प्रतीति होती है, जिससे वीररस ध्वनित होता है। (वीररस का स्थायी भाव उत्साह है, और स्थायी भाव के रहने से तत्सम्बन्धी रस स्वयं रहेगा। अतः यहाँ रस-ध्वनि है।) नखों के स्वभावतः प्रहारक शस्त्र होने के कारण, और अन्य साधन के विना ही रक्षा भी करने के कारण, उन नखों की अतिशय शक्तिमत्ता प्रकट होती है, जो कि नखों को ('मधुरिपुर्नखै-स्त्रायतां' न कहकर 'नखाः त्रायन्ताम्' इस प्रकार) 'कर्त्ता' बनाकर सूचित की गई है, और यह ध्वनित होता है कि ईश्वर को अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती है। 'मधुरिपु' शब्द का प्रयोग करके कवि ने भगवान् के, (सृष्टि के प्रारम्भ से ही, क्योंकि मधु दैत्य सृष्टि के प्रारम्भ में ही हुआ था) सदैव जगत् के भय को दूर करने वाले उद्यम का सङ्केत किया है।

कैसे मधुरिपु (विष्णु) के ?

अपनी इच्छा से ही सिंह बनने वाले के—कर्मों के वशीभूत होकर नहीं, और न ही किसी अन्य की इच्छा के कारण, वरन् (सुरनर तिर्यक् से अवध्य होने का वर प्राप्त करने वाले) विशिष्ट दानव (हिरण्यकशिपु) के हनन के लिए उस प्रकार के रूप के उचित (उपयोगी) होने के कारण सिंह के रूप को स्वीकृत करने वाले भगवान् के।

कैसे नख ?

जो शरणागतों की पीड़ा को नष्ट करने वाले हैं—नखों के लिए 'छेदन' क्रिया उचित ही है। यद्यपि आर्त्ति का छेदन करना नखों के लिए असम्भव है (क्योंकि वह अमूर्त्त होती है) तथापि उन नखों के भगवद्-इच्छा से निर्मित होने के सामर्थ्य से उनका अमूर्त्त को छेदना भी सम्भव ही है। अथवा, तीनों लोकों का कण्टक, संसार का त्रासक हिरण्यकशिपु ही। वास्तव में भगवान् की शरण में आए हुए लोगों का पीडक होने के कारण मानों आर्ति का मूर्तरूप ही है, और

लोचन

वस्थायां परमकारुणिकत्वमुक्तं, किं च ते नखाः स्वच्छेन स्वच्छतागुणेन नैर्मल्येन ; स्वच्छमृदुप्रभृतयो हि मुख्यतया भाववृत्तय एव ; स्वच्छायया च वक्रहृद्यरूपयाऽऽकृत्याऽऽयासितः खेदितः इन्दुर्यैः अत्रार्थशक्तिमूलेन ध्वनिना बालचन्द्रत्वं ध्वन्यते, आयासनेन तत्सन्निधौ चन्द्रस्य विच्छायत्वप्रतीतिरहृद्यत्व-प्रतीतिश्च ध्वन्यते, आयासकारित्वं च नखानां सुप्रसिद्धम् ; नरहरिनखानां तच्च लोकोत्तरेण रूपेण प्रतिपादितम्, किं च तदीयां स्वच्छतां कुटिलिमानं चावलोक्य बालचन्द्रः स्वात्मनि खेदमनुभवति ; तुल्येऽपि स्वच्छकुटिलाकारयोगेऽमी प्रपन्नार्तिनिवारणकुशलाः ; न त्वहमिति व्यतिरेकालङ्कारोऽपि ध्वनितः, किं चाहं पूर्वमेक एवासाधारणवैशद्यहृद्याकारयोगात्समस्तजनाभिलषणीयताभाजनमभवम्, अद्य पुनरेवंविधा नखा दश बालचन्द्राकाराः सन्तापार्तिच्छेदकुशलाश्चेति तानेव लोको बालेन्दुबहुमानेन पश्यति, न तु मामित्याकलयन्बालेन्दुरविरतमायासमनु-भवतीवेत्युत्प्रेक्षापह्नुतिध्वनिरपि, एवं वस्त्वलङ्काररसभेदेन त्रिधा ध्वनिरत्र श्लोकेऽस्मद्गुरुभिर्व्याख्यातः ।

रश्मि

उसका विनाश करने वाले उन नखों द्वारा आर्ति ही विनष्ट हो जाती है—इस प्रकार उस हनन करने की अवस्था में भी भगवान् का परम कारुण्य—भाव प्रकट होता है। (अर्थात् पीडा का ही नाश करते हैं किसी प्राणी का नहीं।) और वे नख अपनी स्वच्छता गुण से अर्थात् निर्मलता से, क्योंकि स्वच्छ और मृदु आदि (विशेषण शब्द) प्रमुखतया धर्मवाचक (भाववाचक) ही होते हैं, तथा अपनी कान्ति से अर्थात् अपनी वक्र और मनोरम रूपवाली आकृति से, चन्द्रमा को खेद उत्पन्न करने वाले हैं। यहाँ (स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः इस विशेषण में) अर्थशक्तिमूलक (अलङ्कारमूलक वस्तु) ध्वनि द्वारा बालचन्द्रमा ध्वनित होता है, और 'आयासन' से—नख के समीप चन्द्र का मलिन और असुन्दर प्रतीत होना ध्वनित होता है। नखों का आयासकारित्व (चीरना फाड़ना आदि) तो प्रसिद्ध ही है। नृसिंह भगवान् के नख उस आयासकारित्व अथवा पीडादायक कर्म को (स्वच्छता आदि के द्वारा) लोकोत्तर रूप से करते हैं। उनकी स्वच्छता और बाँकेपन को देखकर बालचन्द्र अपने मन में खेद का अनुभव करता है कि "स्वच्छता और वक्रता में मेरे समान होने पर भी ये नख शरणागत की पीडा को निवारण करने में कुशल हैं, और मैं कुशल नहीं हूँ"—और इस प्रकार व्यतिरेकालङ्कार की भी ध्वनि हो रही है। और, पहले मैं ही अकेला असाधारण रूप से विशद और मनोरम आकार से युक्त होकर सब लोगों की अभिलाषा का

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व—
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ॥१॥

लोचन

अथ प्राधान्येनाभिधेयस्वरूपमभिदधदप्रधानतया प्रयोजनप्रयोजनं तत्सम्बद्धं प्रयोजनं च सामर्थ्यात्प्रकटयन्नादिवाक्यमाह—काव्यस्यात्मेति।

रश्मि

पात्र बनता था, परन्तु आज तो इस प्रकार के दस बालचन्द्राकार नख हैं,—जो सन्ताप और पीड़ा को विनष्ट करने में कुशल हैं,—उन्हीं को लोग बालेन्दु समझ कर अधिक आदर से देखते हैं, मुझे नहीं,—ऐसा सोचता हुआ बालेन्दु मानों निरन्तर क्लेश का अनुभव करता है—इस प्रकार अपह्नुति और उत्प्रेक्षा (के सङ्कर) की ध्वनि भी होती है। इस प्रकार इस श्लोक में हमारे गुरु द्वारा (वस्तु, अलङ्कार और रस रूप) तीन प्रकार की ध्वनि की व्याख्या की गई है*।

प्रधान रूप से तो प्रतिपाद्य (अभिधेय) 'ध्वनि' के स्वरूप को कहते हुए, और अप्रधान रूप से उस (प्रयोजनभूत) अभिधेय के प्रयोजन सहृदयमन की प्रीति को कहते हुए; और उन दोनों से सम्बद्ध प्रयोजन अर्थात् ध्वनिस्वरूप-ज्ञान को अर्थ-सामर्थ्य द्वारा (तात्पर्य रूप से) प्रकट करते हुए कारिकाकार प्रथम वाक्य कहते हैं:—काव्यस्यात्मेति।

*यहाँ तीनों ध्वनियाँ इस प्रकार हैं:—

(१) भगवान् को अन्य साधन की अपेक्षा नहीं—वस्तु ध्वनि

(२) वक्रता और नैर्मल्य से बालेन्दु की—वस्तु ध्वनि

(३) 'आयासन' से इन्दु की मलिनता और अहृद्यता की—वस्तु ध्वनि

(४) सुन्दरता और वक्रता में तुल्य होने पर भी वे पीडा-निवारण में समर्थ हैं, मैं नहीं,—व्यतिरेक अलङ्कार रूप अलङ्कार ध्वनि

(५) आयासमनुभवतीव—उत्प्रेक्षा अलङ्कार ध्वनि

(६) उन्हें ही लोग बालेन्दु समझ लेंगे, मुझे नहीं—अपह्नुतिरूप अलङ्कार ध्वनि

(७) नृसिंह भगवान् की लोकरक्षाहेतु सतत उद्योगशीलता द्वारा—वीर रस की ध्वनि।

बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आसमन्ताद् म्नातः प्रकटितः, तस्य सहृदयजनमनः प्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः । तदभाववादिनां चामी विकल्पाः संभवन्ति ।

लोचन

काव्यात्मशब्दसंनिधानाद्बुधशब्दोऽत्र काव्यात्मावबोधनिमित्तक इत्यभिप्रायेण विवृणोति-काव्यतत्त्वविद्भिरिति । आत्मशब्दस्य तत्त्वशब्देनार्थं विवृण्वानः सारत्वमपर-शाब्दवैलक्षण्यकारित्वं च दर्शयति । इतिशब्दः स्वरूपपरत्वं ध्वनिशब्दस्याचष्टे, तदर्थस्य विवादास्पदीभूततया निश्चयाभावेनार्थत्वायोगात् । एतद्विवृणोति—संज्ञित इति । वस्तुतस्तु न तत्संज्ञामात्रेणोक्तम्, अपि|त्वस्त्येव ध्वनिशब्दवाच्यं प्रत्युत समस्तसारभूतम्। न ह्यन्यथा बुधास्तादृशमामनेयुरित्यभिप्रायेण विवृणोति—तस्य सहृदयेत्यादिना । एवं तु युक्ततरम्—इतिशब्दो भिन्नक्रमो वाक्यार्थपरामर्शकः, ध्वनिलक्षणोऽर्थः ।काव्यस्यात्मेति ःय समाम्नात इति । शब्दपदार्थकत्वे हि ध्वनिसंज्ञितोऽर्थ इति का सङ्गतिः! एवं हि

रश्मि

'काव्यात्म' शब्द का सान्निध्य होने के कारण यहाँ पर 'बुध' शब्द 'काव्य की आत्मा को जानने वाले' के अर्थ में आया है । इसी अभिप्राय से वृत्तिकार इसकी व्याख्या रूप से 'काव्यतत्त्वविद्भिः' कहते हैं । 'आत्म' शब्द की व्याख्या 'तत्त्व' शब्द द्वारा करके (काव्य में ध्वनि की) श्रेष्ठता तथा काव्य में उसकी शब्द-सम्बन्धी अन्य बातों अभिधेय, लक्ष्यार्थ, तथा गुण, अलङ्कार आदि की अपेक्षा दूसरी ही विलक्षणता पैदा करने वाली विशेषता दिखाई है, क्योंकि आत्मा सार अंश अथवा अत्युत्कृष्ट अंश होता है । 'इति' शब्द, 'ध्वनि' शब्द का स्वरूप मात्र ही बताता है, उसका अर्थ अभी विवादास्पद और अनिश्चित है—अतः यहाँ 'ध्वनि' के अर्थ को नहीं लिया गया है यही व्याख्यान वृत्तिकार ने वृत्ति में 'संज्ञितः' इस पद द्वारा किया है ।—(इस मत का प्रतिपादन करके पुनः स्वयं इसका खण्डन अभिनव जी करते हैं)—परन्तु वास्तव में (ध्वनिरिति) यहाँ केवल 'ध्वनि' शब्द से ही तात्पर्य नहीं है, अपितु 'ध्वनि' शब्द के अर्थ से भी है । और यही 'ध्वनि' अर्थ, समस्त काव्य का सारभूत है । अन्यथा यहाँ यदि इस 'ध्वनि' शब्द से इसके अर्थ का प्रत्यायन न मानते होते तो विद्वान् लोग कैसे उसे अब तक कहते चले आते इसी अभिप्राय से वृत्तिकार तस्य सहृदयमनः इत्यादि कहते हैं । वास्तव में तो इसका इस प्रकार से व्याख्यान करना अधिक उचित प्रतीत होता है—यहाँ 'इति' शब्द को इस क्रम से हटा कर पूरे वाक्य के अनन्तर लगाने से वाक्य के अर्थ का बोधन हो जाता है । अर्थात्—"ध्वनि (रूप अर्थ) काव्य की आत्मा

लोचन

ध्वनिशब्दः काव्यस्यात्मेत्युक्तं भवेद्, गवित्ययमाहेति यथा। न च विप्रतिपत्तिस्थानमसदेव, प्रत्युत सत्येव धर्मिणि धर्ममात्रकृता विप्रतिपत्तिरित्यलमप्रस्तुतेन भूयसा सहृदयजनोद्वेजनेन। बुधस्यैकस्य प्रामादिकमपि तथाभिधानं स्यात्, न तु भूयसां तद्युक्तम्। तेन बुधैरिति बहुवचनम्। तदेव व्याचष्टे—परम्परयेति। अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्तं विनाऽपि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनादित्यभिप्रायः। न च बुधा भूयांसोऽनादरणीयं वस्त्वादरेणोपदिशेयुः; एतत्त्वादरेणोपदिष्टम्। तदाह—सम्यगाम्नातपूर्व इति। पूर्वग्रहणेनेदम्प्रथमता नात्र सम्भाव्यत इत्याह, व्याचष्टे च—सम्यगासमन्ताद् म्नातः

रश्मि

है" (इति) यह जो कहा गया है—वह। [ध्वनिः काव्यस्यात्मेति] क्योंकि (ध्वनिरिति का अर्थ) यदि केवल 'ध्वनि' इस शब्द ही को मानते हैं, तो 'ध्वनि शब्द नामक अर्थ' का क्या तात्पर्य होगा? यह तो यही कहना हुआ कि 'ध्वनि शब्द' ही काव्य की आत्मा है, जैसे यह व्यक्ति 'गो' यह कह रहा है। (क्योंकि बिना किसी विभक्ति आदि का प्रयोग किए 'गो इति' मात्र कहने से केवल 'गो' ध्वनि (आवाज) ही समझी जायगी। उसका गाय या अन्य कोई अर्थ नहीं समझा जा सकता है।) और यदि हम 'ध्वनि अर्थ' की सत्ता को मानें ही नहीं तो विप्रतिपत्तियाँ ही कैसे उठेंगी? क्योंकि विप्रतिपत्तियों का विषय (स्थान) असम्भव नहीं होता (अर्थात् जिस वस्तु की सत्ता ही नहीं उसके विषय में कोई विप्रतिपत्ति उठती ही नहीं।) वरन् धर्मी (अर्थात् ध्वनि अर्थ) के विद्यमान रहने पर ही धर्म-रूप (तीन प्रकार की) विप्रतिपत्तियाँ उठती हैं। अस्तु। सहृदयों के उद्वेगकारक इस अप्रस्तुत विषय को अधिक नहीं कहेंगे। यदि एक ही विद्वान् कहता तो हम उस कहने को प्रमादजन्य भी कहते पर बहुत से विद्वान् प्रमादजन्य बात कहेंगे—यह मानना ठीक नहीं है। इसी प्रयोजन से 'बुधैः' यहाँ बुध शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। विद्वानों द्वारा अविच्छिन्न रूप से यह कहा गया है, आगे इसी की व्याख्या वृत्ति में परम्परया आदि द्वारा करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि विशिष्ट रूप से किसी पुस्तक में नहीं लिखा गया था किन्तु अविच्छिन्न परम्परा द्वारा वे इसे कहते आए हैं। और बहुत से विद्वान् अनादरणीय वस्तु को इस प्रकार आदर के साथ कभी न कहते! और इसे तो आदर के साथ उपदिष्ट किया गया है। इसीलिए कहते हैं—'सम्यगाम्नातपूर्वः'। 'पूर्व' कहने का मतलब यह है कि इस (ध्वनि समाम्नाय) में यही (मेरा प्रयत्न) सर्वप्रथम नहीं समझा जाना चाहिए। और ('पूर्व' शब्द का यह अभिप्राय समाम्नात शब्द की) व्याख्या के रूप में वृत्तिकार 'सम्यक् आसमन्तात्

लोचन

प्रकटित इत्यनेन। तस्येति। यस्याधिगमाय प्रत्युत यतनीयं, का तत्राभावसम्भावना। अतः किं कुर्मः अपारं मौर्ख्यमभाववादिनामिति भावः। न चास्माभिरभाववादिनां विकल्पाः श्रुताः, किं तुसम्भाव्य दूषयिष्यन्ते, अतः परोक्षत्वम्। न च भविष्यद्वस्तु दूषयितुं युक्तम्, अनुत्पन्नत्वादेव। तदपि बुद्ध्यारोपितं दूष्यत इति चेत्; बुद्ध्यारोपितत्वादेव भविष्यत्त्वहानिः। अतो भूतकालोन्मेषात् पारोक्ष्याद्विशिष्टाद्यतनत्वप्रतिभानाभावाच्च लिटा प्रयोगः कृतः-जगदुरिति। तद्व्याख्यानायैव सम्भाव्यदूषणं प्रकटयिष्यति। सम्भावनाऽपि नेयमसम्भवतो युक्ता, अपि तु सम्भवत एव, अन्यथा सम्भावनानामपर्यवसानं स्यात् दूषणानां च। अतः सम्भावनामभिधायिष्यमाणां समर्थयितुं पूर्वं सम्भवन्तीत्याह। सम्भाव्यन्त

रश्मि

म्नातः प्रकटितः' के द्वारा प्रकट करते हैं। जिसको जानने के लिए प्रत्युत प्रयत्न करना चाहिए उसके अभाव की सम्भावना कैसी? अतः हम क्या करें? अर्थात् ध्वनि का अभाव मानने वालों की अपार मूर्खता है। हमने यद्यपि अभाववादियों के विकल्पों को सुना तो नहीं है, पर हम उन विकल्पों की सम्भावना करके उन्हें दोषयुक्त बताएँगे, इसी कारण (जगदुः में) परोक्षभूत का प्रयोग किया गया है। (सम्भावना में भविष्यत्त्व की गन्ध रहती ही है, अतः) भविष्य में होने वाली वस्तु को हम दोषयुक्त कह ही नहीं सकते—क्योंकि वह उत्पन्न ही नहीं हुई है। यदि यह कहें कि भविष्य में होने वाली वस्तु को भी बुद्धि में सोचकर दोषयुक्त बता देंगे तो बुद्धि में आरोपित (कल्पित) करने के कारण ही वह भविष्य की बात नहीं रह जायगी। अतः (बुद्धि में कल्पित करने के साथ ही) भूत-काल की झलक आ जाने के कारण और परोक्षभूत होने के कारण, तथा विशिष्ट अद्यतनत्व के आभास के अभाव के कारण लिट् का प्रयोग किया गया है—'जगदुः' में। इस (लिट्) की व्याख्या रूप में ही वृत्तिकार ('आचक्षीरन्' शब्द द्वारा) सम्भावना रूप से दोषों को प्रकट करेंगे। अर्थात् वे लिट् के तात्पर्य को लिङ् रूप से बताएँगे। किन्तु यह सम्भावना भी (आकाशकुसुम, शशविषाण सदृश) नितान्त असम्भव (वस्तु) की नहीं उचित है, अपितु सम्भव की ही। अन्यथा (यदि असम्भव की सम्भावना करने लगें तो) न तो सम्भावनाओं की कोई सीमा हो सकेगी और न उनके दोषों की ही। इसीलिए 'आचक्षीरन्' इत्यादि से कही जाने वाली सम्भावना को साधित करने के लिए (अर्थात् जो सम्भव है उसी की सम्भावना की जा सकती है इस प्रकार से उसका समर्थन करने के लिए) पहले 'सम्भवन्ति' में लट् कहा है। (तात्पर्य यह है कि विकल्पों की सम्भावना अवश्य है तभी तो 'सम्भवन्ति' में लट् का प्रयोग किया है।)

लोचन

इति तूच्यमानं पुनरुक्तार्थमेव स्यात् । न च सम्भवस्यापि सम्भावना, अपि तु वर्तमानतैव स्फुटेति वर्तमानेनैव निर्देशः । ननु चासम्भवद्वस्तुमूलया सम्भावनया यत्सम्भावितं तद्दूषयितुमशक्यमित्याशङ्क्याह—विकल्पा इति । न तु वस्तु सम्भवति तादृक् यत इयं सम्भावना, अपि तु विकल्पा एव । ते च तत्वावबोधवन्ध्यतया स्फुरेयुरपि, अत एव 'आचक्षीरन्' इत्यादयोऽत्र सम्भावनाविषया लिङ्प्रयोगा अतीतपरमार्थे पर्यवस्यन्ति । यथा—

यदि नामास्य कायस्य यदन्तस्तद्बहिर्भवेत् ।
दण्डमादाय लोकोऽयं शुनः काकांश्च वारयेत् ॥

इत्यत्र । यद्येवं कायस्य दृष्टता स्यात्तदैवमवलोक्येतेति भूतप्राणतैव । यदि न स्यात्ततः किं स्यादित्यत्रापि, किं वृत्तं यदि पूर्ववन्न भवनस्य सम्भावनेत्ययमेवार्थ

रश्मि

यदि सम्भाव्यन्ते कहते तो पुनरुक्ति दोष हो जाता (क्योंकि आचक्षीरन् के सम्भावना लिङ् का तथा सम्भाव्यन्ते के कर्मणि णिच् का एक ही तात्पर्य होता है ।) जो सम्भव (अर्थात् सत्तावान्) है उसकी (लिङ् द्वारा) सम्भावना नहीं की जाती, क्योंकि उसका होना (सत्ता) तो निश्चित ही है—वहाँ तो उसकी विद्यमानता (वर्तमानता) स्पष्ट ही है, अतः यहाँ (सम्भवन्ति द्वारा) वर्तमान काल (लट् लकार) में उसका निर्देश किया गया है। अब यदि यह शङ्का करें कि जो सम्भववस्तुमूलक सम्भावना द्वारा सम्भावित होता है उसे दोषयुक्त नहीं बता सकते (क्योंकि वह एक वास्तविक बात होती है) तो कहते हैं कि विकल्पों का होना निश्चित है अर्थात् ऐसा कोई तथ्य सम्भव नहीं है जिससे इस प्रकार की सम्भावना की जायगी अपितु विकल्प (विरुद्ध विचार) ही, जो वास्तविक तत्त्व (तथ्य) के समझने की बन्ध्यता (अभाव) में प्रतीत हो सकते हैं। अतः यहाँ 'आचक्षीरन्' में सम्भावना-विषयक लिङ् के प्रयोग में वास्तव में अतीत काल का ही तात्पर्य है ।

(अर्थात् जगदुः में लिट् का प्रयोग करते समय कारिकाकार की बुद्धि में जो सम्भावना का तत्त्व था उसे वृत्तिकार ने आचक्षीरन् का प्रयोग कर विवृत कर दिया, साथ ही सम्भावना में भूतकाल का तत्त्व मिला होने के कारण 'आचक्षीरन्' 'जगदुः' का पर्याय रूप-सा हो गया ।) जैसेः—

"यदि इस शरीर का जो अन्दर है वह बाहर होता तो लोग डंडा लेकर कुत्तों और कौओं को हटाते रहते ।" यहाँ इसका तात्पर्य यह है कि यदि शरीर ऐसा दिखाई पड़े तो (लोग) ऐसा (करते) दिखाई पड़ते—इसमें भूतकाल प्राण (प्रधान) रूप से ही

लोचन

इत्यलमप्रकृतेन बहुना । तत्र समयापेक्षणेन शब्दोऽर्थप्रतिपादक इति कृत्वा वाच्यव्यतिरिक्तं नास्ति व्यङ्ग्यम् , सदपि वा तदभिधावृत्त्याक्षिप्तं शब्दावगतार्थबलाकृष्टत्वाद्भाक्तम् , तदनाक्षिप्तमपि वा न वक्तुं शक्यं कुमारीष्विव भर्तृसुखमतद्विन्सु इति त्रय एवैते प्रधानविप्रतिपत्तिप्रकाराः । तत्राभावविकल्पस्य त्रयः प्रकाराः—शब्दार्थगुणालङ्काराणामेव शब्दार्थशोभाकारित्वाल्लोकशास्त्रातिरिक्तसुन्दरशब्दार्थमयस्य काव्यस्य न शोभाहेतुः कश्चिदन्योऽस्ति योऽस्माभिर्न गणित इत्येकः प्रकारः , यो वा न गणितः स शोभाकार्येव न भवतीति द्वितीयः , अथ शोभाकारी भवति तर्ह्यस्मदुक्त एव गुणे वालङ्कारे वान्तर्भवति, नामान्तरकरणे तु कियदिदं पाण्डित्यम् । अथाप्युक्तेषु गुणेष्वलङ्कारेषु वा नान्तर्भावः , तथापि किंचिद्विशेषलेशमाश्रित्य नामान्तरकरणमुपमाविच्छित्तिप्रकाराणामसंख्यत्वात् ।

रश्मि

है । यदि ऐसा न होता, तो क्या होता, (अर्थात्) क्या (फल) हुआ, यदि पूर्ववत् (अर्थात् पहले जैसे होने की सम्भावना की गई है उसी प्रकार) न होने की सम्भावना की जाय तो—अर्थात् अतीतपरमार्थता रहेगी ही । (इस प्रकार लिङ् का प्रयोग उचित ही है) अब अधिक अप्रासङ्गिक बात न कहें ।

शब्द अपने सङ्केत (समय) की अपेक्षा करके ही अर्थ बताता है । (और यह सङ्केतितार्थ ही वाच्य कहलाता है) अतः वाच्य से भिन्न व्यङ्ग्य अर्थ की कोई सत्ता नहीं है । यदि व्यङ्ग्य है ही तो वह अभिधा वृत्ति द्वारा आक्षिप्त है, (अर्थात्) शब्द से जिस (सङ्केतित) अर्थ का बोध होता है उसके बल (सम्बन्ध) से बोधित होने के कारण (अभिधेय से सम्बन्धित होने के कारण) भाक्त (लक्षणागम्य) ही है । और यदि लक्षणा के द्वारा बोधित नहीं होता तो उस (व्यङ्ग्य) के विषय में हम वाणी द्वारा कुछ कह नहीं सकते हैं—जैसे कुमारियाँ भर्तृसुख नहीं बता सकतीं क्योंकि वे उसे नहीं जानतीं। इस प्रकार विप्रतिपत्ति के ये ही तीन प्रधान भेद हैं ।

उनमें भी अभाववाद के तीन प्रकार हैं—प्रथम यह कि शब्द और अर्थ के गुणों और अलङ्कारों द्वारा ही शब्द और अर्थ में शोभा होती है । अतः लोक (-प्रयुक्त) और शास्त्र (-प्रयुक्त) से श्रेष्ठ, सुन्दर शब्दार्थ से युक्त काव्य की शोभा का हेतु (गुण अलङ्कार से) अन्य कोई भी नहीं है जो हमारे द्वारा न गिना (कहा) गया हो । दूसरा यह कि, जो हमारे द्वारा नहीं कहा गया है वह शोभाकारी ही नहीं हो सकता । तीसरा यह कि यदि (हमारे द्वारा न कहा गया भी वह) शोभाकारी होता है, तो वह हमारे द्वारा कहे हुए गुणों या अलङ्कारों में अंतर्भूत

तत्र केचिदाचक्षीरन्—शब्दार्थशरीरन्तावत्काव्यम्। तत्र च शब्दगताश्चारुत्व-हेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव। अर्थगताश्चोपमादयः। वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः, ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः। तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति।

लोचन

तथापि गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वाभाव एव। तावन्मात्रेण च किं कृतम्? अन्यस्यापि वैचित्र्यस्य शक्योत्प्रेक्षत्वात्। चिरन्तनैर्हि भरतमुनिप्रभृतिभिर्यमकोपमे एव शब्दार्थालङ्कारत्वेनेष्टे, तत्प्रपञ्चदिग्दर्शनं त्वन्यैरलङ्कारकारैः कृतम्। तद्यथा—'कर्मण्यण्' इत्यत्र कुम्भकाराद्युदाहरणं श्रुत्वा स्वयं नगरकारादिशब्दा उत्प्रेक्ष्यन्ते, तावता क आत्मनि बहुमानः। एवंप्रकृतेऽपीति तृतीयः प्रकारः। एवमेकस्त्रिधा विकल्पः, अन्यौ च द्वाविति पञ्च विकल्पा इति तात्पर्यार्थः।

तानेव क्रमेणाह—शब्दार्थशरीरं तावदित्यादिना। तावद्ग्रहणेन कस्याप्यत्र न विप्रतिपत्तिरिति दर्शयति। तत्र शब्दार्थौ न तावद्ध्वनिः, यतः संज्ञामात्रेण हि को गुणः? अथ शब्दार्थयोश्चारुत्वं स ध्वनिः। तथापि द्विविधं चारुत्वम्—स्वरूपमात्रनिष्ठं संघटनाश्रितं च। तत्र शब्दानां स्वरूपमात्रकृतं चारुत्वं शब्दाल-

रश्मि

हो जाता है। उसका ('ध्वनि' इस प्रकार का) दूसरा नाम मात्र करने में क्या पाण्डित्य है? और यदि हमारे द्वारा कहे हुए गुणों और अलङ्कारों में उस 'ध्वनि' का अन्तर्भाव नहीं होता हो तब भी (किसी गुण अलङ्कार आदि के) कुछ विशिष्ट अंश को लेकर ही यह दूसरा नाम (ध्वनि) रक्खा गया है, क्योंकि उपमा के ही वैचित्र्य-प्रकारों की कोई संख्या नहीं है। (उन्हीं प्रकारों में से आप किसी एक का दूसरा नाम 'ध्वनि' रखते हैं) परन्तु वस्तुतः गुण और अलङ्कार से भिन्न उसकी कोई सत्ता नहीं है। लेशमात्र विभिन्नता को लेकर नामान्तर कर देने से क्या लाभ? अन्य विचित्रताओं की भी तो कल्पना की जा सकती है। चिरन्तन भरत मुनि आदि ने केवल यमक और उपमा ही को क्रमशः शब्द और अर्थ का अलङ्कार माना था। उन्हीं से अन्य आलङ्कारिकों ने दूसरे अलङ्कारों का प्रस्तार किया। जैसे, (व्याकरण-शास्त्र में) 'कर्मण्यण्' सूत्र के अनुसार 'कुम्भकार' बना, यह उदाहरण सुनकर यदि 'नगरकार' आदि शब्दों को बना लें तो इसमें अपनी कौन बड़ाई? इसी प्रकार इस प्रकृत अर्थात् प्रस्तुत ध्वनि-प्रसङ्ग में भी कहा जा सकता है। इस प्रकार यह अकेला अभाववाद तीन प्रकार का हो जाता है, और अन्य दो और हैं, अतः कुल मिलाकर पाँच विकल्प

लोचन

ङ्कारेभ्यः, संघटनाश्रितं तु शब्दगुणेभ्यः। एवमर्थानां चारुत्वं स्वरूपमात्रनिष्ठमुपमादिभ्यः। संघटनापर्यवसितं त्वर्थगुणेभ्य इति न गुणालङ्कारव्यतिरिक्तो ध्वनिः कश्चित्। संघटनाधर्मा इति। शब्दार्थयोरिति शेषः। यद्गुणालङ्कारव्यतिरिक्तं तच्चारुत्वकारि न भवति, नित्यानित्यदोषा असाधुदुःश्रवादय इव। चारुत्वहेतुश्च ध्वनिः, तन्न तद्व्यतिरिक्त इति व्यतिरेकी हेतुः। ननु वृत्तयो रीतयश्च यथा गुणालङ्कारव्यतिरिक्ताश्चारुत्वहेतवश्च, तथा ध्वनिरपि तद्व्यतिरिक्तश्च

रश्मि

इन्हीं विकल्पों को वृत्तिकार क्रम से कहते हैं—शब्दार्थशरीरं तावत् इत्यादि। 'तावत्' शब्द कहकर यह प्रदर्शित किया है कि इस (काव्य-लक्षण) में (ध्वनि के वादी अथवा प्रतिवादी) किसी को भी आपत्ति नहीं है। पर (काव्य के शरीर) शब्द और अर्थ तो 'ध्वनि' हैं नहीं क्योंकि केवल (दूसरा) नाम रखने से लाभ ही क्या ? यदि आप यह कहें कि जिससे शब्द और अर्थ में चारुता आए वह ध्वनि है, तो, (यह जानिये कि) चारुता दो प्रकार की होती है—(१) (शब्द और अर्थ की) केवल स्वरूपगत, और (२) (उनकी) संघटनागत। शब्दों का स्वरूपगत—सौन्दर्य शब्दालङ्कारों से होता है, तथा संघटनागत-सौन्दर्य शब्दगुणों से। इसी प्रकार अर्थों का स्वरूपगत चारुत्व उपमादि (अर्थालङ्कारों) से होता है तथा संघटनागत अर्थगुणों से। इस प्रकार (यदि ध्वनि शब्द और अर्थ का चारुत्वहेतु है तो) गुण और अलङ्कार से भिन्न 'ध्वनि' नामक कोई वस्तु नहीं है। वृत्ति में संघटनाधर्माः पद का सम्बन्ध है शब्द और अर्थ के साथ अर्थात् शब्द और अर्थ के संघटनाधर्म। (न्यायशास्त्र की भाषा में इसको इस प्रकार कहेंगे) "जो गुण और अलङ्कार से भिन्न होता है वह चारुता का हेतु नहीं होता—जैसे, व्याकरण-नियमों से रहित असाधु आदि नित्य दोष और श्रुतिदुष्ट आदि अनित्य दोष। और चूँकि ध्वनि चारुता का हेतु है, अतः वह गुणालङ्कार से विभिन्न नहीं है"—इस प्रकार यह केवल व्यतिरेकी हेतु होगा।

[अर्थात् इसके अन्वय रूप का कोई उदाहरण या सपक्ष है ही नहीं जैसे यच्चारुत्वहेतुत्वं तद्गुणालङ्कारत्वम्। किन्तु व्यतिरेक रूप का उदाहरण दिया जा सकता है जैसे यन्न गुणालङ्कारत्वं तन्न चारुत्वहेतुत्वं —यथा काव्यदोषाः तथा चायं ध्वनिः।]

अब शङ्का यह है कि "जैसे वृत्तियाँ और रीतियाँ गुणालङ्कार से भिन्न होती हुई भी चारुत्वहेतु हैं, उसी प्रकार ध्वनि भी गुणालङ्कार से भिन्न होगा और चारुता का हेतु होगा, अतः यह (केवल) व्यतिरेकी हेतु व्यापित्वासिद्ध (हेत्वाभास) हो जायगा।"—इस प्रकार की शङ्का को मन में कल्पित कर समाधान करते हुए-से

लोचन

चारुत्वहेतुश्च भविष्यतीत्यसिद्धो व्यतिरेक इत्यनेनाभिप्रायेणाह—तदनतिरिक्तवृत्तय इति । नैव वृत्तिरीतीनां तद्व्यतिरिक्तत्वं सिद्धम् । तथा ह्यनुप्रासानामेव दीप्तमसृणमध्यमवर्णनीयोपयोगितया परुषत्वललितत्वमध्यमत्वस्वरूपविवेचनाय वर्गत्रयसम्पादनार्थं तिस्रोऽनुप्रासजातयो वृत्तय इत्युक्ताः, वर्तन्तेऽनुप्रासभेदा आस्विति । यदाह—

सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु ।
पृथक्पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ॥ इति ॥

पृथक्पृथगिति । परुषानुप्रासा नागरिका । मसृणानुप्रासा उपनागरिका, ललिता । नागरिकया विदग्धया उपमितेति कृत्वा । मध्यममकोमलपरुषमित्यर्थः । अत एव वैदग्ध्यविहीनस्वभावासुकुमारापरुषग्राम्यवनितासादृश्यादियं वृत्तिर्ग्राम्येति । तत्र तृतीयः कोमलानुप्रास इति वृत्तयोऽनुप्रासजातय एव । न चेह वैशेषिकवद्वृत्तिर्विवक्षिता, येन जातौ जातिमतो वर्तमानत्वं न स्यात्, तदनुग्रह एव हि तत्र वर्तमा-

रश्मि

वृत्तिकार तदनतिरिक्तवृत्तयः आदि कहते हैं। अर्थात् वृत्तियाँ और रीतियाँ गुणालङ्कार से पृथक् नहीं हैं। क्योंकि दीप्त, मसृण और मध्यम रूप वाले वर्णनीय विषयों के लिए उपयोगी अनुप्रास के परुष, ललित और मध्यम स्वरूपों के विवेचन के लिए, जो उनके तीन वर्ग या राशियाँ बनाई गईं अनुप्रासों की वे तीन जातियाँ ही वृत्तियाँ कही गई हैं। ('वृत्ति' शब्द की व्युत्पत्ति है) अनुप्रासों के भेद वर्तमान रहते हैं जिनमें। जैसा कि (उद्भट) कहते हैं—"इन (पूर्वोक्त) तीनों वृत्तियों में ही समान व्यञ्जनों को रखना कवियों को सदा पृथक् पृथक् अनुप्रास रूप में अभीष्ट है।" अब 'पृथक्पृथक्'—इस अंश को समझाते हैं। परुष वर्णों की अनुप्रास वाली नागरिका वृत्ति होती है। (दीप्त अथवा चटकीले वेष वाली नागरिक महिला के समान होने के कारण उसे यह गौणी संज्ञा दी गई है।) मसृण (कोमल) वर्णों की अनुप्रास वाली उपनागरिका अथवा ललिता वृत्ति है। चतुर नागरिक स्त्री से उपमित होने के कारण इसे उपनागरिका कहते हैं (यहाँ 'उप' शब्द का उपमित या सदृश अर्थ है)। मध्यम का अर्थ है न कोमल, न परुष। अतएव चातुर्यरहित स्वभाव से सुकुमार, अपरुष ग्राम्य नारी के समान होने के कारण यह ग्राम्या वृत्ति कहलाती है। इस तृतीय वृत्ति में तीसरे प्रकार का अनुप्रास होता है जिसे 'कोमलानुप्रास' कहते हैं (जो केवल रूढ अर्थ में है, इसका यौगिक अर्थ नहीं है क्योंकि यहाँ कोमल वर्णों के अनुप्रास का अभाव होता है)। ये वृत्तियाँ अनुप्रास की जातियाँ ही होती हैं। यहाँ वैशेषिक मत के अनुसार जाति नहीं कही गई है। वैशेषिक मत में जातिमान् जाति में नहीं रह सकता (वरन् जाति

लोचन

नत्वम् । यथाह कश्चित्—

लोकोत्तरे हि गाम्भीर्ये वर्तन्ते पृथिवीभुजः । इति । तस्माद्वृत्तयोऽनुप्रासादिभ्योऽनतिरिक्तवृत्तयो नाभ्यधिकव्यापाराः । अत एव व्यापारभेदाभावान्न पृथगनुमेयस्वरूपा अपीति वृत्तिशब्दस्य व्यापारवाचिनोऽभिप्रायः । अनतिरिक्तत्वादेव वृत्तिव्यवहारो भामहादिभिर्न कृतः । उद्भटादिभिः प्रयुक्तेऽपि तस्मिन्नार्थः कश्चिदधिको हृदयपथमवतीर्ण इत्यभिप्रायेणाह—गताः श्रवणगोचरमिति । रीतयश्चेति । तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि गताः श्रवणगोचरमिति सम्बन्धः । तच्छब्देनात्र माधुर्यादयो गुणाः, तेषां च समुचितवृत्त्यर्पणे यदन्योन्यमेलनक्षमत्वेन पानक इव गुडमरिचादिरसानां सङ्घातरूपतागमनं दीप्तललितमध्यमवर्णनीयविषयं गौडीयवैदर्भपाञ्चालदेशहेवाकप्राचुर्यदृशा तदेव त्रिविधं रीतिरित्युक्तम् । जातिर्जातिमतो नान्या, समुदायश्च समुदायिनो नान्य

रश्मि

जातिमान् में रहती है) । अपितु वृत्तियों से अनुगृहीत अथवा युक्त रहना ही अनुप्रासों का वृत्तियों में रहना कहा गया है । जैसे (साधारण प्रयोग में) कोई कहता है—

"राजा लोग लोकोत्तर गाम्भीर्य में रहते हैं ।"

इसलिए वृत्तियों का अनुप्रासों से भिन्न कुछ भी वृत्ति नहीं, अधिक कुछ भी व्यापार नहीं है । अतएव व्यापार के अभेद के कारण इन वृत्तियों का स्वरूप भी अनुप्रासादि से विभिन्न नहीं कहा जायगा—अनतिरिक्तवृत्तयः में व्यापारवाची वृत्ति शब्द का यही अभिप्राय है । चूँकि वृत्तियाँ अनुप्रासों से विभिन्न कुछ नहीं हैं अतएव भामह आदि ने वृत्ति का व्यवहार (विवेचन) नहीं किया । यद्यपि उद्भटादि ने इनका उल्लेख किया है फिर भी (उनके विवेचन में) वृत्ति का अनुप्रास से अधिक कुछ अन्य अर्थ हृदय को ग्राह्य नहीं होता–इसीलिए वृत्तिकार ने 'कानों में पड़ी है' अथवा 'सुनाई पड़ी है' यह कहा है । रीतयश्च इति–उन (माधुर्यादि गुणों) से अभिन्न व्यापार वाली रीतियाँ भी सुनाई पड़ती हैं । यहाँ 'तत्' शब्द का तात्पर्य माधुर्यादि गुणों से है (अनुप्रास आदि अलङ्कारों से नहीं क्योंकि रीतियों का सम्बन्ध गुणों से ही रहता है) । इन दसों गुणों का समुचित वृत्ति (अर्थात् रसाभिव्यञ्जक विशिष्ट वर्ण-योजना) के लिए, परस्पर मिश्रित होने की क्षमता के कारण, गुड-मिर्च आदि से बने हुए पानक-रस के समान, दीप्त मसृण और मध्यम-इन तीन प्रकार के वर्णनीय विषयों के अनुसार सङ्घात (संयुक्त) रूप को प्राप्त होने को ही, उनमें क्रम से गौड विदर्भ और पाञ्चाल देशों के निवासियों के स्वभाव का प्राचुर्य देखकर उन्हें गौडी वैदर्भी तथा पाञ्चाली नाम देकर, तीन प्रकार की रीतियाँ कहा गया । (वैसे ये सर्वत्र प्रचलित हैं—किसी देश-विशेष में ही नहीं) ।

अन्ये ब्रूयुः—नास्त्येव ध्वनिः। प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्। न

लोचन

इति वृत्तिरीतयो न गुणालङ्कारव्यतिरिक्ता इति स्थित एवासौ व्यतिरेकी हेतुः। तदाह—तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिरिति। नैष चारुत्वस्थानं शब्दार्थरूपत्वाभावात्। नापि चारुत्वहेतुः, गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वादिति। तेनाखण्डबुद्धिसमास्वाद्यमपि काव्यमपोद्धार-बुद्ध्या यदि विभज्यते, तथाप्यत्र ध्वनिशब्दवाच्यो न कश्चिदतिरिक्तोऽर्थो लभ्यत इति नामशब्देनाह।

ननु मा भूदसौ शब्दार्थस्वभावः, मा च भूत्तच्चारुत्वहेतुः, तेन गुणालङ्कार-व्यतिरिक्तोऽसौ स्यादित्याशङ्क्य द्वितीयमभाववादप्रकारमाह—अन्य इति। भवत्वेवम्, तथापि नास्त्येव ध्वनिर्यादृशस्त्वं लिलक्षयिषितः। काव्यस्य ह्यसौ कश्चिद्वक्तव्यः। न चासौ नृत्तगीतवाद्यादिस्थानीयः काव्यस्य कश्चित्। कवनीयं काव्यं, तस्य भावश्च

रश्मि

जाति जातिमान् से भिन्न नहीं है यानी वृत्ति और अलङ्कार में भेद नहीं है। उसी प्रकार समुदाय (अवयवी अर्थात् रीतियाँ) समुदायी (अवयव अर्थात् माधुर्यादि गुण) से भिन्न नहीं है। इस प्रकार यह सिद्ध ही रहा कि वृत्तियाँ और रीतियाँ क्रमशः अलङ्कारों और गुणों से भिन्न नहीं हैं। अतः हमारे द्वारा प्रतिपादित व्यतिरेकी हेतु यहाँ अडिग ही है-(कि जो गुणालङ्कार से भिन्न है वह चारुता का हेतु नहीं है। इत्यादि)। अतः अभाववादी कहता है कि गुणालङ्कार से भिन्न यह 'ध्वनि' आखिर है क्या? यह ध्वनि चारुता का स्थान नहीं है क्योंकि यह शब्दार्थस्वरूप नहीं है (वरन् तुम्हारे कहने के अनुसार काव्य की आत्मा रूप है)। और यह ध्वनि चारुता का हेतु भी नहीं है, क्योंकि तुम इसे गुणों और अलङ्कारों से विभिन्न मानते हो। 'नाम' शब्द प्रयुक्त करने का यह तात्पर्य है कि माना अखण्ड-बुद्धि (आस्वादमयी बुद्धि) के द्वारा काव्य के आस्वादन की वेला में हम ध्वनि की सत्ता असत्ता की परवाह नहीं करते किन्तु उस क्षण के पश्चात् अपोद्धार बुद्धि (विवेक बुद्धि) से विवेचन करने पर ध्वनि नामक किसी भी अन्य अतिरिक्त अर्थ की प्राप्ति नहीं होती।*

---

* इस पर कौमुदीकार का विवेचन बड़ा ही विशद हुआ है—"द्विविधा काव्यार्थ-समुल्लेखिनी धीः—आस्वादमयी, युक्तितस्तत्त्वानुसन्धान रूपा च। तत्रास्वादमय्यां धियि तावद्यद्यपि तत्सद्भावासद्भावान्यतरानवगाहितया तदसत्त्वं न चकास्ति, तथापि तद्धीतः प्रतिनिवृत्य तत्सतत्त्वावधारणोद्देशेन युक्तितस्तद्विभागोल्लेखिन्यां कस्यांचिद्बुद्धौ प्रवर्तितायां प्रसिद्धतरगुणादिव्यतिरिक्त ध्वनिशब्दवेद्यं वस्तु किञ्चन कुशाग्रीयचेतसाऽपि सचेतसा समासादयितुमशक्यम्।

चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य तत्सम्भवति । न च तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित्परिकल्प्य तत्प्रसिद्ध्या ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते ।

लोचन

काव्यत्वम् । न च नृत्तगीतादि कवनीयमित्युच्यते ।

प्रसिद्धेति । प्रसिद्धं प्रस्थानं शब्दार्थौ तद्गुणालङ्काराश्चेति, प्रतिष्ठन्ते परम्परया व्यवहरन्ति येन मार्गेण तत्प्रस्थानम् । काव्यप्रकारस्येति । काव्यप्रकारत्वेन तव स मार्गोऽभिप्रेतः, 'काव्यस्यात्मा' इत्युक्तत्वात् । ननु कस्मात्तत्काव्यं न भवतीत्याह—सहृदयेति । मार्गस्येति । नृत्तगीताक्षिनिकोचनादिप्रायस्येत्यर्थः । तदिति । सहृदयेत्यादिकाव्यलक्षणमित्यर्थः । ननु ये तादृशमपूर्वं काव्यरूपतया जानन्ति, त एव सहृदयाः । तदभिमतत्वं च नाम काव्यलक्षणमुक्तप्रस्थानातिरेकिण एव भविष्यतीत्याशङ्क्याह—न चेति । यथा हि खड्गलक्षणं करोमीत्युक्त्वा आतानवितानात्मा प्रावियमाणः

रश्मि

ध्वनि-समर्थक तर्क दे सकता है कि "भले ही यह ध्वनि शब्दार्थसम्बन्धी स्वभाव वाली न हो, और न ही चारुता का हेतु हो, किन्तु, इसीलिए वह गुण और अलङ्कार से अतिरिक्त तो सिद्ध ही है"--ऐसी शङ्का करके अभाववाद का दूसरा पक्ष कहते हैं—"अच्छा, यदि ऐसा हो भी तो भी जैसा लक्षण आप कहना चाहते हैं उस प्रकार के (लक्षण से युक्त) ध्वनि की सत्ता नहीं है। (क्योंकि वह ध्वनि) काव्य से सम्बन्धित कोई चीज़ तो अवश्य है । नृत्तगीतवाद्यादि के समान वह (ध्वनि) काव्य से असम्बन्धित नहीं है । जिसकी योजना (कवन, composition) की जाए वही काव्य है। उसी का भाव काव्यत्व है । नृत्तगीतदि की योजना (अक्षरों द्वारा कवन) नहीं किया जाता है ।

शब्द और अर्थ तथा उन दोनों के गुण और अलङ्कार ही (काव्य के) प्रसिद्ध प्रस्थान अर्थात् जिस मार्ग द्वारा प्रस्थान या परम्परा से व्यवहार किया जाए—हैं। ('काव्यस्यात्मा' कहने से) तुमको वह मार्ग काव्यप्रकारत्व से अभिप्रेत है। यदि पूछें कि वह (ध्वनि) क्यों काव्य नहीं है ? तो उत्तर देते हैं कि नृत्त गीत आँख मटकाना आदि की भाँति (वह ध्वनि) काव्य नहीं है, क्योंकि सहृदयहृदयाह्लादी शब्दार्थमयता ही काव्य-लक्षण है। (नृत्तगीत आदि में यह लक्षण सम्भव नहीं है) । तत् का अर्थ है—"सहृदयहृदयाह्लादी इत्यादि काव्य का लक्षण ।" यदि यह कहें कि अपूर्व ध्वनि को ही जो काव्य रूप से जानते हैं वे ही सहृदय हैं, और उनको अभिमत होना ही काव्य का लक्षण है जो उक्त प्रस्थान से भिन्न (ध्वनि नामक नये प्रस्थान का) ही होगा, तो कहते हैं कि यह ठीक नहीं है । जैसे कोई यह कहकर कि "तलवार का लक्षण करता हूँ," यह कहे कि "वह ताने-बाने से युक्त होती है, आवरणस्वरूप, सबकी देह का

पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः—न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित्। कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात्। तेषामन्यतमस्यैव वा अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे यत्किञ्चन कथनं स्यात्।

किञ्च वाग्विकल्पानामानन्त्यात्सम्भवत्यपि वा कस्मिंश्चित्काव्यलक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे ध्वनिर्ध्वनिरिति यदेतदलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते, तत्र हेतुं न विद्मः। सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलङ्कारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च। न च तेषामेषा दशा श्रूयते। तस्मात्प्रवादमात्रं ध्वनिः। न त्वस्य क्षोदक्षमं तत्त्वं किञ्चिदपि प्रकाशयितुं शक्यम्। तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोकः—

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनःप्रह्लादि सालंकृति
व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः॥

लोचन

ननु भवत्वसौ चारुत्वहेतुः शब्दार्थगुणालङ्कारान्तर्भूतश्च, तथापि ध्वनिरित्यमुया भाषया जीवितमित्यसौ न केनचिदुक्त इत्यभिप्रायमाशङ्क्य तृतीयमभाववादमुपन्यस्यति पुनरपर इति। कामनीयकमिति कमनीयस्य कर्म। चारुत्वधीहेतुतेति यावत्।

ननु विच्छित्तीनामसंख्यत्वात्काचित्तादृशी विच्छित्तिरस्माभिर्दृष्टा, या नानुप्रासादौ, नापि माधुर्यादावुक्तलक्षणेऽन्तर्भवेदित्याशङ्क्याभ्युपगमपूर्वकं परिहरति—वाग्विकल्पानामिति। वक्तीति वाक् शब्दः। उच्यत इति वागर्थः। उच्यतेऽनयेति वागभिधाव्यापारः। तत्र शब्दार्थवैचित्र्यप्रकारोऽनन्तः। अभिधावैचित्र्यप्रकारोऽप्यसंख्येयः। प्रकारलेश इति। स हि चारुत्वहेतुर्गुणो वालङ्कारो वा। स च सामान्य

रश्मि

(यदि ध्वनिवादी कहे कि) अच्छा ध्वनि चारुत्वहेतु ही सही, और शब्द-अर्थ के गुण एवं अलङ्कार में उसे अन्तर्भूत भी कर लें; फिर भी 'ध्वनि' नाम से और 'काव्य की आत्मा' रूप से इसे किसी ने नहीं कहा है—अतः इस बात की आशङ्का करके तीसरे अभाववाद को प्रस्तुत करते हैं—पुनरपर इति। कमनीय का कर्म ही कामनीयक (कमनीयता) है—अर्थात् काव्य में चारुत्व की बुद्धि (भावना) का हेतु।

यदि (ध्वनिवादी) यह कहें कि "विचित्रताएँ तो असंख्य हैं। अतः हमने कोई ऐसी विचित्रता देखी है, जो न तो जिनका लक्षण किया जा चुका है उन अनुप्रासादि अलङ्कारों अथवा माधुर्यादि गुणों में अन्तर्भूत हो सकती है" तो इस आशङ्का के कुछ अंश

लोचन

लक्षणेन संगृहीत एव। यदाहुः—'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' इति। तथा 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः' इति। ध्वनिर्ध्वनिरिति वीप्सया सम्भ्रमं सूचयन्नादरं दर्शयति—नृत्यत इति। तल्लक्षणकृद्भिस्तद्युक्तकाव्यविधायिभिस्तच्छ्रवणोद्भूतचमत्कारैश्च प्रतिपत्तृभिरिति शेषः। ध्वनिशब्दे कोऽत्यादर इति भावः। एषा दशेति। स्वयं दर्पः परैश्च स्तूयमानतेत्यर्थः। वाग्विकल्पाः वाक्प्रवृत्तिहेतुप्रतिभाव्यापारप्रकारा इति वा। तस्मात्प्रवादमात्रमिति। सर्वेषामभाववादिनां साधारण उपसंहारः। यतः शोभाहेतुत्वे गुणालङ्कारेभ्यो न व्यतिरिक्तः, यतश्च व्यतिरिक्तत्वे न शोभाहेतुः, यतश्च शोभाहेतुत्वेऽपि नादरास्पदं तस्मादित्यर्थः। न चेयम-

रश्मि

को वस्तुतः स्वीकार-सा (अभ्युपगम) करते हुए उसका निराकरण करते हैं—वाग्विकल्पानामिति। (यहाँ वाक् शब्द, कृत् प्रत्यय के अनेक अर्थ में करने से, अनेक अर्थों में व्याख्येय है) जो कहता है (कर्तरि) वह वाक् है, अर्थात् शब्द। जो कहा जाए (कर्मणि) वह वाक् है, अर्थात् अर्थ। जिसके द्वारा (अर्थ) कहा जाए (करणे) वह वाक् है अर्थात् अभिधा–व्यापार। यहाँ शब्द और अर्थ की विचित्रता के प्रकार अनन्त हैं। अभिधा की विचित्रता के प्रकार भी असंख्य हैं। प्रकारलेश इति। क्योंकि चारुता का हेतु वह (ध्वनि) गुण अथवा अलङ्कार ही होगा। और वह, (गुण अथवा अलङ्कार के) सामान्य–लक्षण करने से, (सामान्य रूप से तो) कह ही दिया गया है। जैसा कि (आचार्य वामन) कहते हैं—"काव्य की शोभा को करने वाले धर्म गुण होते हैं, और (उस शोभा के) अतिशय के हेतु अलङ्कार होते हैं।" तथा (भामह के अनुसार) "वाच्य और शब्द की वक्र उक्ति ही वाणी का अलङ्कार है।" "ध्वनि ध्वनि"—उस प्रकार वीप्सा द्वारा (दो बार कहकर) उतावली सूचित करते हुए (ध्वनिवादियों का ध्वनि के प्रति) आदर प्रकट करते हैं। (नृत्यते—नाचते हैं, अर्थात्) ध्वनि का लक्षण करने वाले (आचार्य), ध्वनियुक्त काव्य की रचना करने वाले (कवि), और उसे सुन कर चमत्कृत होने वाले ध्वनि के ग्राहक (सहृदय)—ये तीनों। (यहाँ नृत्यते का प्रयोग कर ध्वनि के प्रति इस आदरातिशय को अनुचित कहा है।) 'ध्वनि' शब्द के प्रति आखिर इतना आदर ही कैसा ? 'एषा दशा' से तात्पर्य है कि स्वयं गर्व करना और दूसरों से प्रशंसा करवाना।

वाग्विकल्पाः का अर्थ वाक्प्रवृत्ति अर्थात् बोलने की हेतुभूत प्रतिभा के व्यापार के प्रकार इत्यादि भी हो सकता है। अस्तु।

'तस्मात् प्रवादमात्रं ध्वनिः—यह वाक्य तीनों प्रकार के अभाववादियों का साधारण उपसंहार है। अर्थात् चूँकि ध्वनि शोभा का हेतु होने पर गुणालङ्कारों से भिन्न

लोचन

भावसम्भावना निर्मूलैव दूषितेत्याह—तथा चान्येनेति। ग्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना। यतो न सालङ्कृति, अतो न मनःप्रह्लादि। अनेनार्थालङ्काराणामभाव उक्तः। व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैरिति शब्दालङ्काराणाम्। वक्रोक्तिः उत्कृष्टा संघटना, तच्छून्यमिति शब्दार्थगुणानाम्। वक्रोक्तिशून्यशब्देन सामान्यलक्षणाभावेन सर्वालङ्काराभाव उक्त इति केचित्। तैः पुनरुक्तत्वं न परिहृतमेवेत्यलम्। प्रीत्येति। गतानुगतिकानुरागेणेत्यर्थः। सुमतिनेति। जडेन पृष्टो भ्रूभङ्गकटाक्षादिभिरेवोत्तरं ददत्तत्स्वरूपं काममाचक्षीतेति भावः।

एवमेतेऽभावविकल्पाः शृङ्खलाक्रमेणागताः, न त्वन्योन्यासम्बद्धा एव। तथा हि तृतीयाभावप्रकारनिरूपणोपक्रमे पुनःशब्दस्यायमेवाभिप्रायः, उपसंहारैक्यं च सङ्गच्छते।

रश्मि

नहीं है, चूँकि भिन्न होने पर शोभाकारी नहीं है, और चूँकि शोभाकारी होने पर भी वह आदरयोग्य नहीं (नगण्य) है (इसलिए ध्वनि केवल गप्प मात्र है।) और (अभाववादियों की) यह (ध्वनि के प्रति) अभाव की सम्भावना बिना किसी आधार के ही दूषित नहीं की गई है। इसे तथा चान्येन इत्यादि द्वारा कहते हैं अर्थात् आनन्द के समकालीन मनोरथ कवि द्वारा। (ध्वनि चूँकि) अलङ्कारयुक्त नहीं है, अतः मन को आनन्द देने वाली नहीं है—इसके द्वारा अर्थालङ्कारों का अभाव कहा गया है। "व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैः"—इस कथन के द्वारा शब्दालङ्कारों का अभाव निर्दिष्ट किया गया है। वक्रोक्ति का तात्पर्य उत्कृष्ट योजना से है (स्वयं आगे कहेंगे—वक्रता च लोकोत्तीर्णेन रूपेण अवस्थानम्)। उनसे शून्य अर्थात् शब्द अर्थ के गुणों से शून्य। कुछ का मत है कि "वक्रोक्ति से शून्य" कहने का तात्पर्य है कि (अलङ्कार के) सामान्य-लक्षण (वक्रोक्ति) से शून्य, और इस प्रकार सभी अलङ्कारों का अभाव कह दिया (क्योंकि वक्रोक्ति सब अलङ्कारों के मूल में हैं)। परन्तु इस प्रकार कहने में पुनरुक्ति नहीं हटाई जा सकेगी (क्योंकि शब्दालङ्कार और अर्थालङ्काकार का अभाव तो कह ही चुके हैं, अब पुनः सब अलङ्कारों का अभाव कहने से पुनरुक्ति होगी ही)। 'प्रीत्या' का अर्थ है गतानुगतिक अथवा गड्डरिका न्याय से। मूर्ख द्वारा पूछे जाने पर भ्रूभङ्ग—कटाक्षादि के द्वारा उत्तर देता हुआ ध्वनि के स्वरूप को ध्वनिवादी भले ही दे दे।

इस प्रकार अभाववादियों के ये तीनों विकल्प (विरुद्ध विचार) शृङ्खला-क्रम से (परस्पर सम्बन्धित) चले आए हैं—ये परस्पर असम्बद्ध नहीं हैं। जैसा कि तृतीय अभाववाद का प्रकार निरूपण करने के प्रारम्भ में 'पुनः' शब्द (रखने)

भाक्तमाहुस्तमन्ये। अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः ।

यद्यपि च ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित्प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक्स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम्—'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इति ।

लोचन

अभाववादस्य सम्भावनाप्राणत्वेन भूतत्वमुक्तम् । भाक्तवादस्त्वविच्छिन्नः पुस्तकेष्वित्यभिप्रायेण भाक्तमाहुरिति नित्यप्रवृत्तवर्तमानापेक्षयाभिधानम् । भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यते इति भक्तिर्धर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादिः, तत आगतो भाक्तो लाक्षणिकोऽर्थः । यदाहुः—

अभिधेयेन सामीप्यात्सारूप्यात्समवायतः ।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता ॥ इति ॥

गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिर्भक्तिः, तत आगतो गौणोऽर्थो भाक्तः । भक्तिः प्रतिपाद्ये सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः,तां प्रयोजनत्वेनोद्दिश्य तत आगतो

रश्मि

का यही तात्पर्य है (अन्यथा 'अपरे पुनः' ही कहना उचित क्रम था); और (तभी) तीनों मतों का एक ही उपसंहार भी सङ्गत है ।

चूँकि अभाववाद (की कल्पना) में सम्भावना ही प्राण (प्रधान) है, अतः (जगदुः में) भूतकाल का प्रयोग किया गया है । किन्तु भाक्तवाद तो अलङ्कार ग्रन्थों में निरन्तर अविच्छिन्न रूप से चला आया है अतः भाक्तमाहुः में 'नित्यप्रवृत्त' अर्थवाले वर्तमान की दृष्टि से लट् लकार कहा गया है। (अब भाक्त का अर्थ लक्षणागम्य है यह बताने के लिए भाक्त शब्द की व्युत्पत्ति उस उस प्रकार से करेंगे जिससे यह लक्षणा के ही विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित सिद्ध हो जाय।) भज्यते अर्थात् लक्ष्यार्थ जिसका आश्रय (सेवा) लेता है, अपनी सत्ता के लिए जिस, प्रसिद्ध होने के कारण, सामीप्यादि सम्बन्ध की अपेक्षा करता है वह भक्ति है—अभिधेयार्थ से सामीप्यादि सम्बन्ध। उससे आए (प्रतीत होने वाले) लाक्षणिक अर्थ को 'भाक्त' कहते हैं। जैसा कि कहते हैं —" अभिधेय से (अभिधेय अर्थ के साथ) सामीप्य, सारूप्य, समवाय (संयोग), वैपरीत्य और क्रियायोग (कार्यकारणभाव) सम्बन्ध होने से लक्षणा पाँच प्रकार की होती है।"

गुणसमुदायवृत्ति—अर्थात् (सिंह सम्बन्धी) गुण-समूह का प्रतिपादन करने वाले (सिंह) शब्द के अर्थ का कुछ भाग (अंश) तैक्ष्ण्यादि को भक्ति कहेंगे और उस भक्ति से जो अर्थ निकले उस गौण अर्थ को भाक्त कहेंगे ।

लोचन

भाक्त इति गौणो लाक्षणिकश्च। मुख्यस्य चार्थस्य भङ्गो भक्तिरित्येवं मुख्यार्थबाधा, निमित्तं, प्रयोजनमिति त्रयसद्भाव उपचारबीजमित्युक्तं भवति। काव्यात्मानं गुणवृत्तिरिति। सामानाधिकरण्यस्यायं भावः—यद्यप्यविवक्षितवाच्ये ध्वनिभेदे 'निःश्वासान्ध इवादर्शः' इत्यादावुपचारोऽस्ति, तथापि न तदात्मैव ध्वनिः, तद्व्यतिरेकेणापि भावात् विवक्षितान्यपरवाच्यप्रभेदादौ ; अविवक्षितवाच्येऽप्युपचार एव, न ध्वनिरिति वक्ष्यामः। तथा च वक्ष्यति—

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः।
अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया॥ इति॥
कस्यचिद्ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्॥ इति च॥

गुणाः सामीप्यादयो धर्मास्तैक्ष्ण्यादयश्च। तैरुपायैर्वृत्तिरर्थान्तरे यस्य, तैरुपायैर्वृत्तिर्वा शब्दस्य यत्र स गुणवृत्तिः शब्दोऽर्थो वा। गुणद्वारेण वा वर्तनं गुणवृत्तिर-

रश्मि

(प्रयोजन रूप से) प्रतिपादनीय पावन, तैक्ष्ण्यादि अर्थों में श्रद्धा (मानस अभिप्राय) का अतिशय ही भक्ति है। उस भक्ति (पावनत्वादि प्रतीति) को प्रयोजन मानकर निकाला गया गौण या लाक्षणिक अर्थ 'भाक्त' हुआ।

मुख्यार्थ का भङ्ग भी 'भक्ति है' (उस भक्ति से भी निकला गौण या लाक्षणिक अर्थ भाक्त ही कहलाएगा)। इस प्रकार मुख्यार्थबाध, सामीप्यसम्बन्धादि निमित्त, और प्रयोजन—लक्षणा के बीज इन तीनों की सत्ता कह दी गई। काव्यात्मानं गुणवृत्तिरिति। इसमें गुणवृत्ति और काव्यात्मा में समानाधिकरण करने (अर्थात् तादात्म्य रूप से गुणवृत्ति को ही काव्यात्मा कहने) का तात्पर्य यह है कि—यद्यपि अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलक) ध्वनि-भेद में 'निःश्वासान्ध इवादर्शः इत्यादि उदाहरणों में लक्षणा है, तथापि वहाँ लक्षण ही ध्वनि नहीं है क्योंकि जहाँ लक्षणा नहीं भी होती वहाँ भी ध्वनि होती है, जैसे विवक्षितान्यपरवाच्य आदि (अभिधा मूलक) ध्वनि भेदों में। और अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलक) ध्वनि में भी लक्षणा ही ध्वनि नहीं है। और आगे कहेंगे भी—"(अर्थ) रूप के भिन्न होने के कारण ध्वनि की लक्षणा के साथ एकात्मकता नहीं हो सकती। और यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण कहें तो अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष आ जाएँगे। हाँ, ध्वनि के किसी एक भेद का उपलक्षण (किसी अन्य रूप से सम्बन्धित) मात्र भक्ति हो सकती है।"

(अब 'गुणवृत्ति' और 'ध्वनि' दोनों शब्द एक ही अर्थ के पर्यायवाची हैं यह सिद्ध करते हैं—) सामीप्यादि और तैक्ष्ण्यादि धर्म गुण हैं। (निमित्त रूप) उन गुणों के द्वारा अर्थान्तर (तीरादि) में वृत्ति (व्यापार अथवा प्रयोग) है जिस—गङ्गादि

लोचन

मुख्योऽभिधाव्यापारः । एतदुक्तं भवति—ध्वनतीति वा, ध्वन्यत इति वा, ध्वननमिति वा यदि ध्वनिः, तथाप्युपचरितशब्दार्थव्यापारातिरिक्तो नासौ कश्चित् । मुख्यार्थे ह्यभिधैवेति पारिशेष्यादमुख्य एव ध्वनिः, तृतीयराश्यभावात् ।

ननु केनैतदुक्तं ध्वनिर्गुणवृत्तिरित्याशङ्क्याह—यद्यपि चेति । अन्यो वेति । गुणालङ्कारप्रकार इति यावत् । दर्शयतेति । भट्टोद्भटवामनादिना । भामहेनोक्तं—'शब्दाश्छन्दोभिधानार्थाः' इति अभिधानस्य शब्दाद्भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे—'शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च' इति । वामनोऽपि 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' इति । मनाक्स्पृष्ट इति । तैस्तावद्ध्वनिदिगुन्मीलिता; यथालिखितपाठकैस्तु स्वरूपविवेकं कर्तुमशक्नुवद्भिस्तत्स्वरूपविवेको न कृतः

रश्मि

शब्द की वह गङ्गा शब्द ही गुणवृत्ति है । अथवा उन (सामीप्यादि) गुणों के द्वारा शब्द की वृत्ति हो गई है जिस अर्थान्तर में वह अर्थान्तर ही गुणवृत्ति है । (इस प्रकार गुणवृत्ति का तात्पर्य लाक्षणिक (गङ्गादि) शब्द और (तीरादि) लक्ष्यार्थ दोनों हैं । अब आगे गुणवृत्ति शब्द की तीसरी व्युत्पत्ति कहते हैं—) अथवा सामीप्यतैक्ष्ण्यादि गुणों के द्वारा शब्द की वृत्ति (व्यापार) गुणवृत्ति है । यह गुणवृत्ति, शब्द का अमुख्य अभिधा अथवा अर्थ-व्यापार है । (यहाँ 'अभिधा' न कहकर 'अर्थ' कहना चाहिए था ।) इस प्रकार यह कहना हुआ कि—("ध्वनि" की व्युत्पत्ति इन तीन प्रकारों से करने पर भी) 'जो ध्वनन (अनुरणन) करे, वह (शब्द) ध्वनि है', 'जो ध्वनित हो वह (अर्थ) ध्वनि है', तथा 'ध्वनन (व्यञ्जना) व्यापार ध्वनि है'—और इस तरह भी लाक्षणिक शब्द, लक्ष्य अर्थ, और लक्षणा व्यापार से भिन्न यह 'ध्वनि' कुछ भी नहीं हुई । मुख्यार्थ में तो अभिधा है, और शेष बचने वाले अमुख्यार्थ में ही तुम्हारी 'ध्वनि' है, (क्योंकि मुख्य और अमुख्य व्यापार से भिन्न) कोई तृतीय राशि है ही नहीं ।

अब 'ध्वनि' गुणवृत्ति है यह किसने कहा है—यह आशंका करके कहते हैं—यद्यपि चेति । 'अन्यो वा' का अर्थ है गुणालङ्काररूप कोई प्रकार—अर्थात् गुणालङ्कार को भी कहीं ध्वनि नहीं कहा है । (अमुख्य वृत्ति द्वारा काव्य में व्यवहार) दिखाने वाले (से यहाँ तात्पर्य) भट्टोद्भट और वामन इत्यादि से है । भामह ने कहा है कि '''शब्द'; 'छन्द', 'अभिधानार्थ' आदि काव्य के हेतु हैं ।''*

---

*पूरा श्लोक इस प्रकार है :—

'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः ।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यहेतवः ।। ।।

केचित्पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदय-संवेद्यमेव समाख्यातवन्तः। तेनैवंविधासु विमतिषु स्थितासु सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः।

लोचन

प्रत्युतोपालभ्यते, अभग्ननारिकेलवत् यथाश्रुततद्ग्रन्थोद्ग्रहणमात्रेणेति। अत एवाह—परिकल्प्यैवमुक्तमिति। यद्येवं न योज्यते तदा ध्वनिमार्गः स्पृष्ट इति पूर्वपक्षाभिधानं विरुध्यते।

शालीनबुद्धय इति। अप्रगल्भमतय इत्यर्थः। एते च त्रय उत्तरोत्तरं भव्य-बुद्धयः। प्राच्या हि विपर्यस्ता एव सर्वथा। मध्यमास्तु तद्रूपं जानाना अपि सन्देहे-

रश्मि

यहाँ पर 'अभिधान' का 'शब्द' से भेद बताने के लिए भट्टोद्भट ने व्याख्या की है—"अभिधान अर्थात् शब्दों का अभिधा व्यापार जो मुख्य और गुणवृत्ति रूप है।" वामन ने भी कहा है कि "सादृश्य से की गई लक्षणा वक्रोक्ति कहलाती है।"*

उन आचार्यों ने ध्वनि की ओर सङ्केत-मात्र कर दिया, परन्तु उसके (वास्तविक)–स्वरूप का विवेचन करने में असमर्थ (पूर्वाचार्यों के) लिखे अक्षरों को केवल बाँचने वालों (बाद के साहित्य–समालोचकों) द्वारा उस ध्वनि के वास्तविक स्वरूप का विवेचन तो नहीं किया गया, वरन् उस पर आक्षेप किया गया है। बिना तोड़े हुए नारियल के समान पूर्व आचार्यों के ग्रन्थों को जैसे सुना वैसे ही (अर्थात् बिना उनकी बातों का रहस्य समझे) उसे धारण कर लिया। अतएव वृत्तिकार कहते हैं—'परिकल्प्यैवमुक्तम्' इति। यदि वृत्तिकार 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इस कारिकाभाग की व्याख्या करते हुए यह न कहते कि "काव्य में अमुख्य वृत्ति का व्यवहार दिखाने वाले आचार्यों ने ध्वनि की ओर सङ्केत तो किया किन्तु बाद वालों ने उसे ठीक से पहिचाना नहीं यही सोचकर करिकाकार ने भाक्तमाहुः कहा है" बल्कि इतना ही कहते "भाक्तमाहुस्तमन्ये अर्थात् ध्वनिमार्गो मनाक्स्पृष्टः" तो यह मत पूर्वपक्ष के विरुद्ध पड़ता, अर्थात् यह तो सिद्धान्त पक्ष ही हो जाता (और 'न लक्षितः' लगा देने से यह अर्थ हो जाता है कि उन्होंने तो ठीक सङ्केत किया था, बाद वालों ने उसका गलत अर्थ समझ कर भक्ति और ध्वनि को एक कर दिया।)

(यहाँ लोचनकार यदि यथालिखित इत्यादि द्वारा नए कर्त्ता की कल्पना न कर लक्षितः का भी कर्त्ता भट्टोद्भट वामन को ही मानते तो कोई हानि न होती। अस्तु।)

*कहने का तात्पर्य यह है कि भामह ने 'अभिधान' शब्द द्वारा, भट्टोद्भट ने 'गुणवृत्ति' और वामन ने 'लक्षणा' शब्द कहकर काव्य में गुणवृत्ति द्वारा व्यवहार दिखाया है।

तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतमतिरमणीय-मणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्, अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते ॥ १ ॥

लोचन

नापह्नुवते । अन्त्यास्त्वनपह्नुवाना अपि लक्षयितुं न जानत इति क्रमेण विपर्याससन्देहाज्ञानप्राधान्यमेतेषाम् । तेनेति । एकैकोऽप्ययं विप्रतिपत्तिरूपो वाक्यार्थो निरूपणे हेतुत्वं प्रतिपद्यत इत्येकवचनम् । एवंविधासु विमतिष्विति निर्धारणे सप्तमी । आसु मध्ये एकोऽपि यो विमतिप्रकारस्तेनैव हेतुना तत्स्वरूपं ब्रूम इति, ध्वनिस्वरूपमभिधेयम्, अभिधानाभिधेयलक्षणो ध्वनिशास्त्रयोर्वक्तृश्रोत्रोर्व्युत्पाद्यव्युत्पादकभावः सम्बन्धः, विमतिनिवृत्त्या तत्स्वरूपज्ञानं प्रयोजनम्, शास्त्रप्रयोजनयोः साध्यसाधनभावस्सम्बन्ध इत्युक्तम् ।

अथ श्रोतृगतप्रयोजनप्रयोजनप्रतिपादकं 'सहृदयमनःप्रीतये' इति भागं व्याख्यातुमाह—तस्य हीति । विमतिपदपतितस्येत्यर्थः । ध्वनेः स्वरूपं लक्षयतां सम्बन्धिनि मनसि आनन्दो निर्वृत्यात्मा चमत्कारापरपर्यायः, प्रतिष्ठां परैर्विपर्यासाद्युप-

रश्मि

शालीनबुद्धि का अर्थ है अप्रगल्भमति । ये तीनों प्रकार के विप्रतिपत्तिवादी क्रम से उत्तरोत्तर अच्छी बुद्धि वाले हैं । अभाववादियों का ज्ञान तो सर्वथा मिथ्या है । बीच वाले (भाक्तवादी) ध्वनि के स्वरूप को जानते हुए भी सन्देह से उसे (गुणवृत्ति में) छिपा लेते हैं । तीसरे प्रकार के विप्रतिपत्तिवादी कुछ न छिपाते हुए भी ध्वनि का लक्षण करना नहीं जानते हैं । इस प्रकार क्रम से इन तीनों में मिथ्या–ज्ञान, सन्देह और अज्ञान की प्रधानता है । अभिनव 'तेन' में एकवचन के प्रयोग की सार्थकता दिखाते हुए कहते हैं कि इनमें एक भी विप्रतिपत्तिरूप वाक्यार्थ ध्वनि के निरूपण का हेतु बनता । 'एवंविधासु विमतिषु' में निर्धारणे सप्तमी है, अर्थात् इन विमतियों में किसी एक भी विमति के कारण हम ध्वनि का स्वरूप कह रहे हैं । (अब अनुबन्ध कहेंगे—) ध्वनि का स्वरूप अभिधेय (विषय) है । ध्वनि के प्रतिपादक इस शास्त्र और ध्वनि सिद्धान्त में अभिधान और अभिधेय सम्बन्ध है ।

(यहाँ क्रम उल्टा रक्खा है, यानी 'अभिधेय' पहले होना चाहिये था जो कि ध्वनि के लिए कहा गया है, और 'अभिधान' बाद में, जो शास्त्र के लिए आया है । इसी प्रकार आगे व्युत्पाद्य व्युत्पादकादि में भी उल्टा क्रम रक्खा है ।)

वक्ता और श्रोता में व्युत्पादक और व्युत्पाद्य सम्बन्ध है । विप्रतिपत्तियों का निराकरण करके ध्वनि के स्वरूप का ज्ञान (शास्त्र का) प्रयोजन है । ध्वनि-शास्त्र और उसके प्रयोजन में साधन और साध्य रूप सम्बन्ध है ।

लोचन

हतैरनुन्मूल्यमानत्वेन स्थेमानं, लभतामिति प्रयोजनं सम्पादयितुं तत्स्वरूपं प्रकाश्यत इति सङ्गतिः । प्रयोजनं च नाम तत्सम्पादकवस्तुप्रयोक्तृताप्राणतयैव तथा भवतीत्याशयेन 'प्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूम' इत्येकवाक्यतया व्याख्येयम् । तत्स्वरूपशब्दं व्याचक्षाणः संक्षेपेण तावत्पूर्वोदीरितविकल्पपञ्चकोद्धरणं सूचयति—सकलेत्यादिना । सकलशब्देन सत्कविशब्देन च प्रकारलेशे कस्मिंश्चिदिति निराकरोति । अतिरमणीयमिति भाक्ताद्व्यतिरेकमाह । न हि 'सिंहो वटुः' 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र रम्यता काचित् उपनिषद्भूतशब्देन तु अपूर्वसमाख्यामात्रकरण इत्यादि निराकृतम् । अणीय-

रश्मि

अब श्रोतृगत प्रयोजन (अर्थात् ध्वनिस्वरूप-ज्ञान) के प्रयोजन (प्रीति) का प्रतिपादन करने वाले 'सहृदयमनःप्रीतये' इस भाग की व्याख्या करते हैं। 'तस्य' का अर्थ है वह ध्वनि जो विप्रतिपत्तियों के झगड़े में पड़ गई है। ध्वनि के स्वरूप को ताड़ने वाले उन सहृदयों के मन में आनन्द अर्थात् निर्वृति रूप (जिसका दूसरा पर्यायवाची) चमत्कार है (वह)। प्रतिष्ठा अर्थात् विपर्यास, सन्देह और अज्ञानादि से उपहत विरोधवादियों द्वारा पुनः उन्मूलित न किया जा सकने के कारण स्थिरता पाए—इस प्रयोजन को पूरा करने के लिए ध्वनि का स्वरूप प्रकाशित करते हैं–इस प्रकार वाक्य का सङ्गति बैठती है। प्रयोजन (प्रीति) का सम्पादन करने वाली वस्तु (ध्वनिस्वरूप-निरूपण) की ओर प्रेरकता ही जिसका प्राण है, अर्थात् जो प्रेरित करे, वही तो प्रयोजन है (अर्थात् ध्वनिस्वरूपनिरूपण (नामक वस्तु) का प्रयोजन प्रीति ही है)—इसी आशय से वृत्तिकार ने एक ही वाक्य में कहा है 'प्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः'। (अब ध्वनिस्वरूप के जो विशेषण वृत्ति में दिए गए हैं उनका प्रयोजन दिखाते हैं—) (कारिका के) 'तत्स्वरूप' शब्द का 'सकल' इत्यादि द्वारा वृत्ति में व्याख्या करते हुए पहले कही हुई पाँच विप्रतिपत्तियों का संक्षेप में प्रतिक्षेप (निरास) सूचित करते हैं। यहाँ 'सकल' और 'सत्कवि' शब्दों से, ध्वनि को जो (तृतीय अभाववाद के तृतीय भाग में) 'प्रकारलेश' कहा गया है–उसका निराकरण करते हैं। (वास्तव में ध्वनि प्रकारलेश नहीं वरन् सभी सत्कवियों के काव्यों का रहस्य स्वरूप है।) 'अतिरमणीय' कहकर भाक्त (लाक्षणिकता) से ध्वनि की विलक्षणता दिखाई है क्योंकि (लाक्षणिक अर्थ वाले वाक्य) 'सिंहो वटुः' और 'गङ्गायां घोषः' में कोई रमणीयता नहीं है (जब कि 'ध्वनि' अत्यन्त रमणीय होती है।) 'उपनिषद्भूत' शब्द के द्वारा इस बात का निराकरण किया है कि "ध्वनि नाम गुणालङ्कार आदि का ही कोई नया नाम मात्र है (अर्थात् तृतीय अभाववाद के द्वितीय भाग का निराकरण)। 'अणीयसीभिः'—अर्थात् प्राचीन काव्यलक्षणकारों की सूक्ष्मतर बुद्धि से

लोचन

सीभिरित्यादिना गुणालङ्कारानन्तर्भूतत्वं सूचयति । अथ चेत्यादिना 'तत्समयान्तः-पातिन' इत्यादिना यत्सामयिकत्वं शङ्कितं तन्निरवकाशीकरोति । रामायणमहाभारत-शब्देनादिकवेः प्रभृति सर्वैरेव सूरिभिरस्यादरः कृत इति दर्शयति । लक्षयतामित्य-नेन वाचां स्थितमविषय इति परास्यति । लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षो लक्षणम् । लक्षेण निरूपय-न्ति लक्षयन्ति, तेषां लक्षणद्वारेण निरूपयतामित्यर्थः । सहृदयानामिति । येषां काव्या-नुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदय-संवादभाजः सहृदयाः । यथोक्तम्—

> योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः ।
> शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥ इति ॥

आनन्द इति । रसचर्वणात्मनः प्राधान्यं दर्शयन् रसध्वनेरेव सर्वत्र मुख्यभूत-मात्मत्वमिति दर्शयति । तेन यदुक्तम्—

रश्मि

भी ध्वनिस्वरूप प्रस्फुटित नहीं हुआ है—यह कहकर ध्वनि का गुणालङ्कार-अंतर्भूत-त्ववाद पक्ष (तृतीय अभाववाद के प्रथम भाग) का निराकरण किया है। 'अथ च'— इत्यादि कहकर 'ध्वनि के प्रति जो कुछ थोड़े से ही सहृदयों की मान्य वस्तु होने' (द्वितीय अभाववाद) की शङ्का की थी उसका निराकरण किया है। रामायण और महाभारत के नामोल्लेख से यह दिखाते हैं कि आदि कवि से लेकर सभी मनीषियों ने ध्वनि का आदर किया है। 'लक्षयतां' पद कहकर 'वाचां स्थितमविषये' का निराकरण किया है। (यहाँ वृत्ति में आए 'लक्षयतां' पद की व्याख्या में कहते हैं—) जिसके द्वारा लक्षित हो वह लक्ष अर्थात् लक्षण है। तो 'लक्षयन्ति' का अर्थ है—लक्ष के द्वारा निरूपण करते हैं। अतः 'लक्षयतां' का अर्थ है—लक्षण के द्वारा निरूपण करने वाले। (जब सहृदय लोग उसका सलक्षण निरूपण करते हैं तो यह कहना कि 'तत्स्वरूपं वाचां स्थितमविषये' उचित नहीं।) (सहृदयों की परिभाषा करते हैं—) काव्य के बार-बार अनुशीलन के कारण निर्मल हुए जिनके दर्पण-तुल्य मन में काव्य-वर्णित (नायकादि विभावादिकों) के साथ तादात्म्यापत्ति (तन्मय होने) की सामर्थ्य होती है—वे अपने हृदय के साथ कवि-हृदय का ंवाद रखने वाले सहृदय कहलाते हैं। जैसा कि कह ।भ .:—

"जो अर्थ हृदय के साथ ंवाद रखता है (अनुकूल होता है) उसकी भावना (अर्थात् हृदय उन्मेष होना) ही रस का उद्भव है। और वह भाव सम्पूर्ण शरीर को उसी प्रकार आक्रान्त कर लेता है जैसे सूखे काठ को अग्नि।"

लोचन

ध्वनिर्नामापरो योऽपि व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।
तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात्काव्येंऽशत्वं न रूपता ॥

इति तदपहस्तितं भवति । तथा ह्यभिधाभावनारसचर्वणात्मकेऽपि त्र्यंशे काव्ये रसचर्वणा तावज्जीवितभूतेति भवतोऽप्यविवादोऽस्ति । यथोक्तं त्वयैव—

काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक् । इति ।

तद्वस्त्वलङ्कारध्वन्यभिप्रायेणांशमात्रत्वमिति सिद्धसाधनम् । रसध्वन्यभिप्रायेण तु स्वाभ्युपगमप्रसिद्धिसंवेदनविरुद्धमिति । तत्र कवेस्तावत्कीर्त्यापि प्रीतिरेव सम्पाद्या । यदाह—'कीर्तिं स्वर्गफलामाहुः' इत्यादि । श्रोतृणां च व्युत्पत्तिप्रीती यद्यपि स्तः,

रश्मि

आनन्द इति । आस्वाद—स्वरूप रस की ही प्रधानता दिखाते हुए यह बताते हैं कि रसध्वनि ही सर्वत्र मुख्यतया काव्य की आत्मा रूप है । इसलिए (भट्टनायक ने) जो यह कहा है कि "ध्वनि नाम का जो यह (अभिधा और भावना से) भिन्न व्यञ्जनात्मक व्यापार (सहृदयों में प्रसिद्ध) है, उसका अभिधा, भावना आदि से भेद सिद्ध होने पर भी काव्य में अंशत्व मात्र ही हो सकता है, वह काव्य का स्वरूप (आत्म-रूप) नहीं हो सकता" ।—वह कहना निराकृत हो गया क्योंकि) आपके मत से) अभिधा, भावना और रस चर्वणा रूप तीन अंशों से युक्त काव्य में भी रस-चर्वणा ही काव्य का जीवितभूत है । इसमें आपको भी कोई विवाद नहीं— जैसा तुमने स्वयं कहा है कि "काव्य में सब रसास्वाद ही लेते हैं, (इतिहास आदि में की भाँति) न बोध करने वाले होते हैं और न ही (वेदादि में की भाँति) आज्ञा लेने वाले ।"

अतः यदि वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार—ध्वनि को आप काव्य का अंशमात्र कहते हैं तो यह तो हमारे ही मान्य सिद्धान्त का साधन हुआ (क्योंकि हम भी रस-ध्वनि को ही प्रधान मानते हैं, अन्य दोनों को अंश-मात्र ।) परन्तु यदि रस ध्वनि के विषय में (काव्य का अंशमात्र) कहा है तो यह आपकी स्वीकृति के विरुद्ध होगा (क्योंकि आप रस-चर्वणा को काव्य का जीवितभूत मान ही चुके हैं) और यह रसानुभव करने वाले सहृदयों के बीच प्रसिद्धि के विरुद्ध होगा तथा अपने अनुभवों के भी विरुद्ध होगा । (अब यह शङ्का करके कि काव्य से कीर्ति आदि अन्य फल भी तो होते हैं, तब फिर उनको क्यों नहीं कहा है, और सहृदयमनःप्रीतये कहकर केवल आनन्द को ही क्यों प्रधानता दी है—उसका समाधान काव्य से सम्बन्धित कवि और श्रोता दोनों की दृष्टि से करते हैं—) काव्य में कवियों की कीर्ति भी (उनकी) प्रीति (आनन्द) ही सम्पादित करती है । जैसा कि कहा

लोचन

यथोक्तम्—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥ इति ॥

तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम् । अन्यथा प्रभुसंमितेभ्यो वेदादिभ्यो मित्रसंमितेभ्यश्चेतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोर्जायासंमितत्वलक्षणो विशेष इति प्राधान्येनानन्द एवोक्तः । चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्यं फलम् ।

आनन्द इति च ग्रन्थकृतो नाम । तेन स आनन्दवर्धनाचार्य एतच्छास्त्रद्वारेण सहृदयहृदयेषु प्रतिष्ठां देवतायतनादिवदनश्वरीं स्थितिं गच्छत्विति भावः । यथोक्तम्—

उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम् ।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपु ः ॥ इति ॥

रश्मि

है—"कीर्ति स्वर्ग- (निरतिशयानन्द रूप)-फल देने वाली होती है ।" काव्य के श्रोताओं को यद्यपि (काव्य पढ़ने से) योग्यता और आनन्द दोनों प्राप्त होते हैं—जैसा कि (भामह ने) कहा है " उत्तम काव्य का पढ़ना धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और कलाओं में निपुणता पैदा करता है, कीर्ति होती है और आनन्द मिलता है "—तथापि इन सबमें आनन्द (प्रीति) ही प्रधान होता है । अन्यथा व्युत्पत्ति के हेतु प्रभुसंमितवेदादिशास्त्रों से और सुहृत्संमितइतिहासादिकों से इस कान्तासम्मित काव्य रूप व्युत्पत्ति के हेतु की क्या विशेषता होती (क्योंकि तीनों में ही व्युत्पत्ति हेतुता तो समान ही है) अतः (कारिका में ' प्रीति ' और वृत्ति में ' आनन्द ' शब्द कहकर) काव्य में आनन्द को ही प्रधानता दी गई है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की निपुणता का भी पर्यवसायी (अन्तिम) मुख्य फल आनन्द ही होता है ।

और ग्रन्थकार का नाम भी तो आनन्द है । अतः (सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठाम् ' का तात्पर्य यह भी होगा कि) ग्रन्थकार आनन्दवर्धनाचार्य इस शास्त्र के द्वारा सहृदयों के हृदय में उसी प्रकार निरन्तर अनश्वरी प्रतिष्ठा (स्थिति) प्राप्त करें, जैसे देवमन्दिर में देवता । जैसा कि कहा है—" उत्तम निबन्ध की रचना करने वालों के स्वर्ग चले जाने पर भी यहाँ उनका काव्य-रूप सुन्दर शरीर निरातङ्क (निर्भय) बना रहता है ।"

तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते—

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥२॥

लोचन

यथा मनसि प्रतिष्ठा एवंविधमस्य मनः, सहृदयचक्रवर्ती खल्वयं ग्रन्थकृदिति यावत् । यथा--'युद्धे प्रतिष्ठा परमार्जुनस्य' इति । स्वनामप्रकटीकरणं श्रोतॄणां प्रवृत्त्यङ्गमेव सम्भावनाप्रत्ययोत्पादनमुखेनेति ग्रन्थान्ते वक्ष्यामः । एवं ग्रन्थकृतः कवेः श्रोतुश्च मुख्यं प्रयोजनमुक्तम् ॥१॥

ननु 'ध्वनिस्वरूपं ब्रूम' इति प्रतिज्ञाय वाच्यप्रतीयमानाख्यौ द्वौ भेदावर्थस्येति वाच्याभिधाने का सङ्गतिः कारिकाया इत्याशङ्क्य सङ्गतिं कर्तुमवतरणिकां करोति—तत्रेति । एवंविधेऽभिधेये प्रयोजने च स्थित इत्यर्थः । भूमिरिव भूमिका । यथा अपूर्वनिर्माणे चिकीर्षिते पूर्वं भूमिर्विरच्यते, तथा ध्वनिस्वरूपे प्रतीयमानाख्ये निरूपयितव्ये निर्विवादसिद्धवाच्याभिधानं भूमिः । तत्पृष्ठेऽधिकप्रतीयमानांशोल्लिङ्गनात् । वाच्येन

रश्मि

(अथवा) आनन्दवर्धन का ऐसा मन है कि मन के विषय में (सभी लोगों के मनों से बढ़कर) उनकी प्रतिष्ठा (श्रेष्ठता) है, क्योंकि ये ग्रन्थकार सहृदयों में चक्रवर्ती हैं । (यह कहना इसी प्रकार का है) जैसे कहा जाता है कि—'युद्ध में अर्जुन की बड़ी प्रतिष्ठा है ।' अपने नाम का प्रकटीकरण (प्रकाशन) श्रोताओं में आदर और विश्वास उत्पन्न कर उनको इस शास्त्र में प्रवृत्त (आकर्षित) करने के लिए किया है, (क्योंकि उनके प्रति लोगों को आदर और विश्वास है) इसे हम ग्रन्थ के अन्त में ' आनन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः ' की व्याख्या में कहेंगे । इस प्रकार ग्रन्थकार का, कवि का और श्रोता का मुख्य प्रयोजन कहा गया ॥ १ ॥

'ध्वनिस्वरूप कहेंगे'—यह प्रतिज्ञा करके,कारिका में 'अर्थ के वाच्य और प्रतीयमान दो भेद हैं'—इस कथन में वाच्यार्थ के कहने की क्या सङ्गति है ?—ऐसी आशङ्का करके, उसकी सङ्गति बैठाने के लिए भूमिका बाँधते हैं—तत्रेति । 'तत्र का तात्पर्य है कि इस प्रकार ध्वनिस्वरूप अभिधेय और प्रीतिरूप प्रयोजन के स्थित होने पर । 'भूमिका' अर्थात् (आधार-) भूमि के समान । (यहाँ भूमिका में भूमि शब्द से प्रतिकृति अर्थात् सदृश अर्थ में 'इवेप्रतिकृतौ' से कन् प्रत्यय हुआ है) । जिस प्रकार अभिनव निर्माण करना चाहने पर पहले आधारभूमि तैयार की जाती है, उसी प्रकार 'प्रतीयमान' नामक ध्वनि-स्वरूप के निरूपण के लिए निर्विवाद-रूप से सिद्ध (माना हुआ) वाच्यार्थ भूमि-रूप है क्योंकि वाच्य के पश्चात् उससे

लोचन

समशीर्षिकया गणनं तस्याप्यनपह्नवनीयत्वं प्रतिपादयितुम्। स्मृतावित्यनेन 'यः समाम्नातपूर्व' इति द्रढयति। 'शब्दार्थशरीरं काव्यमिति' यदुक्तं, तत्र शरीरग्रहणादेव केनाचदात्मना तदनुप्राणकेन भाव्यमेव। तत्र शब्दस्तावच्छरीरभाग एव सन्निविशते सर्वजन-संवेद्यधर्मत्वात्स्थूलकृशादिवत्। अर्थः पुनः सकलजनसंवेद्यो न भवति। न ह्यर्थमात्रेण काव्यव्यपदेशः, लौकिकवैदिकवाक्येषु तदभावात्। तदाह—सहृदयश्लाघ्य इति। स एक एवार्थो द्विशाखतया विवेकिभिर्विभागबुद्ध्या विभज्यते।

तथाहि—तुल्येऽर्थरूपत्वे किमिति कस्मैचिदेव सहृदयाः श्लाघन्ते। तद्भवितव्यं तत्र केनचिद्विशेषेण। यो विशेषः, स प्रतीयमानभागो विवेकिभिर्विशेषहेतुत्वादात्मेति व्यवस्थाप्यते। वाच्यसंवलनाविमोहितहृदयैस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते, चार्वाकैरिवात्म-

रश्मि

व्यतिरिक्त प्रतीयमान का उल्लेख होता है। वाच्य के समप्रधान (समानाधिकरण) रूप से कहने का अर्थ है कि वाच्य की भाँति प्रतीयमान भी अनपह्नवनीय (छिपाया नहीं जा सकता) है। 'स्मृतौ' कहकर 'यः समाम्नातपूर्व'— इस कथन की पुष्टि की है। अभाववादियों के इस कथन 'काव्य शब्दार्थ शरीर वाला है' में काव्य को शरीर रूप से कल्पित करने पर उसकी अनुप्राणक कोई आत्मा अवश्य होनी चाहिए। शब्द तो शरीर भाग में ही रह जाता है क्योंकि स्थूल, कृश आदि (शरीर के धर्म) के समान उसका धर्म (तीव्र आदि) सर्वजनसंवेद्य होता है। किन्तु अर्थ सर्वजनसंवेद्य नहीं होता है (अतः इसे आत्मा के पद पर रक्खा जा सकता है)। (और यदि संवेद्य हो भी जाय तो भी) अर्थ मात्र (की सत्ता) से ही काव्य नाम नहीं दिया जाता है, क्योंकि लौकिक और वैदिक वाक्यों में (अर्थ की सत्ता रहने पर भी) काव्यत्व का अभाव होता है। इसीलिए उसे 'सहृदयश्लाघ्य विशेषण दिया है। विवेकियों द्वारा विभागबुद्धि से उस एक ही अर्थ को वाच्य और प्रतीयमान—इन दो भागों में विभाजित किया गया है जो इस प्रकार है— यदि अर्थों का रूप समान (एक) ही होता तो क्या बात थी कि किसी एक ही (प्रकार के) अर्थ की सहृदय प्रशंसा करते ? अतः उस अर्थ में अवश्य कोई विशिष्टता होगी। और यही विशिष्टता उसका प्रतीयमान भाग है,*

जिसे विवेकियों ने उसकी विशेषता के कारण काव्य की आत्मा रूप से व्यवस्थापित किया है। वाच्यार्थ के सम्मिश्रण के कारण जिनकी बुद्धि भ्रान्त हो गई है वे वाच्य से भिन्न प्रतीयमान अर्थ की सत्ता के प्रति विरुद्ध विचार रखते हैं जिस प्रकार चार्वाक स्थूल शरीर से पृथक् आत्मा के प्रति। अतएव (वाच्य व्यङ्ग्य की

---

* स प्रतीयमानाख्योंऽशः, यत्संवलनादश्लाघ्योऽपि वाच्यांशः श्लाघ्यतां प्रतिपन्नः दहनसंवलनादिव अयःपिण्डो दहनव्यवहारगोचरताम्—कौमुदी

काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थस्तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ ।

लोचन

पृथग्भावे । अत एव अर्थ इत्येकतयोपक्रम्य सहृदयश्लाघ्य इति विशेषणद्वारा हेतुमभिधायापोद्धारदृशा तस्य द्वौ भेदावंशावित्युक्तम्, न तु द्वावप्यात्मानौ काव्यस्येति ।

कारिकाभागगतं काव्यशब्दं व्याकर्तुमाह—काव्यस्य हीति । ललितशब्देन गुणालङ्कारानुग्रहमाह । उचितशब्देन रसविषयमेवौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेर्जीवितत्वं सूचयति । तदभावे हि किमपेक्षयेदमौचित्यं नाम सर्वत्रोद्घोष्यत इति भावः । योऽर्थ इति यदानुवदन् परेणाप्येतत्तावदभ्युपगतमिति दर्शयति । तस्येत्यादिना तदभ्युपगम एव द्व्यंशत्वे सत्युपपद्यत इति दर्शयति । तेन यदुक्तम्--'चारुत्वहेतुत्वाद्गुणालङ्कार-

रश्मि

संवलित स्थिति के कारण ही) 'अर्थः काव्यात्मा'—यह एक (अपृथक्) रूप से कहकर फिर 'सहृदयश्लाघ्य' विशेषण द्वारा (और इसी सहृदयश्लाघ्यता को) वाच्य और प्रतीयमान के पार्थक्य का कारण बताकर, पुनः विवेचक बुद्धि से उस अर्थ के दो भेद या अंश कहे गए । इसका यह तात्पर्य नहीं कि काव्य के दोनों भाग काव्य की आत्माएँ हैं (अपितु आत्मा केवल प्रतीयमान भाग ही है ।)*[1]

कारिकागत 'काव्य' शब्द की व्याख्या वृत्तिकार 'काव्यस्य हि' इत्यादि के द्वारा करते हैं । 'ललित' शब्द द्वारा गुणालङ्कारों का चारुत्वकरण कहा है । 'उचित' शब्द द्वारा औचित्य रस की दृष्टि से ही होता है,*[2] यह दिखाते हुए यह प्रकट किया है कि रस-ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। क्योंकि यदि रस प्राणरूप से न होता तो किसकी अपेक्षा से औचित्य का (लक्षण-ग्रन्थों में) इतना प्रचार किया जाता। 'योऽर्थ' इसमें 'यद्' (जो) शब्द द्वारा उस अर्थ की चर्चा करके यह दिखाया है कि पूर्वपक्षवादी को भी (काव्य का वह सहृदयश्लाघ्य अर्थ) स्वीकृत है । उन पूर्वपक्षवादियों का यह (सहृदयश्लाघ्यत्व गुण) स्वीकार करना तभी संगत भी होगा जब उसके दो अंश माने जाएँगे (अन्यथा एक ही

१—*अतः यहाँ कौमुदीकार ने कारिका का इस प्रकार अन्वय किया है—अत्रेयं कारिकाक्षरयोजना—यः सहृदयश्लाघ्योऽर्थः काव्यात्मेति लोके व्यवस्थितः तादृशस्य तस्य द्वावंशौ स्मृताविति । अत्राविभागबुद्धिगम्याकारेण प्रसिद्धस्यार्थस्य पूर्वार्धे यच्छब्देनानुवादः, उत्तरार्धेन तु विभक्तबुद्धिगम्याकारेण प्रसिद्धसहृदयश्लाघ्यत्वनिदेशपूर्वकं विधानमिति विवेकः । अथवा यः सहृदयश्लाघ्योऽर्थः तस्य द्वौ भेदौ वाच्यप्रतीयमानाख्यौ, तत्र प्रतीयमानांशः काव्यात्मेति व्यवस्थित इति ।

२—स्वयं ध्वन्यालोककार ने कहा है—वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् । रसादिविषयेणैतत्कर्म मुख्यं महाकवेः ॥ ध्वन्या० ३।३२

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः ।

बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः

काव्यलक्ष्मविधायिभिः ।

ततो नेह प्रतन्यते ॥३॥

केवलमनूद्यते पुनर्यथोपयोगमिति ॥

लोचन

व्यतिरिक्तो न ध्वनिः' इति, तत्र ध्वनेरात्मस्वरूपत्वाद्धेतुरसिद्ध इति दर्शितम् । न ह्यात्मा चारुत्वहेतुर्देहस्येति भवति । अथाप्येवं स्यात्तथापि वाच्येऽनैकान्तिको हेतुः । न ह्यलङ्कार्य एवालङ्कारः, गुणी एव गुणः । एतदर्थमपि वाच्यांशोपक्षेपः । अत एव वक्ष्यति—'वाच्यः प्रसिद्धः' इति ॥ २ ॥

तत्रेति । द्व्यंशत्वे सत्यपीत्यर्थः । प्रसिद्ध इति । वनितावदनोद्यानेन्दूदयादिर्लौकिक एवेत्यर्थः । 'उपमादिभिः प्रकारैः स व्याकृतो बहुधे' ति सङ्गतिः । अन्यैरिति कारिकाभागं काव्येत्यादिना व्याचष्टे । 'ततो नेह प्रतन्यत' इति विशेषप्रतिषेधेन शेषाभ्यनुज्ञेति दर्शयति-केवलमित्यादिना ॥३॥

रश्मि

अंश मानने पर फिर अन्य अर्थों से उसकी क्या विशेषता होगी जो वह सहृदयश्लाघ्य होगा—जिसे पूर्वपक्षवादी भी स्वीकार किए हुए है ।) अतः विरोधियों ने जो यह कहा है कि "चारुत्वहेतु होने से ध्वनि गुणालङ्कार से भिन्न नहीं है" तो उनके इस वाक्य में, ध्वनि के आत्मा-रूप होने के कारण, हेतु (चारुत्वहेतुता रूप) ही असिद्ध (हेत्वाभास) हो गया । क्योंकि आत्मा, शरीर की चारुता का हेतु नहीं होती । और यदि उस आत्म-रूप ध्वनि को चारुत्वहेतु मान भी लें तो यह हेतु उस श्लाघ्य अर्थ के वाच्य भाग के पक्ष में अनैकान्तिक (सव्यभिचारी) हो जाएगा, क्योंकि (अर्थ के आत्मा रूप अंश) प्रतीयमान के साथ वाच्यार्थ भी चारुत्वहेतु बन जाएगा । परन्तु ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि अलङ्कार्य (वाच्य) अलङ्कार (आत्मा—ध्वनि) नहीं हो सकता, गुणी (वाच्य) गुण (प्रतीयमान) नहीं होता । इस तात्पर्य (वाच्यांश को चारुत्वहेतु 'आत्मा' मानने में अनैकान्तिक दोष) की सिद्धि के लिए भी वाच्यांश को साथ में रक्खा है (न कि केवल भूमिका रूप से ही) । इसीलिए अगली कारिका में कहेंगे "वाच्यः प्रसिद्धः" इत्यादि ॥२॥

'तत्र' का तात्पर्य है कि सहृदयश्लाघ्य अर्थ के वाच्य और प्रतीयमान—इन दो अंशों के होने पर भी । 'प्रसिद्ध' अर्थात् वनितावदन (आलम्बन), उद्यान, चन्द्रोदय आदि (उद्दीपन) रूप से वह (व्यङ्ग्यार्थ देने वाला वाच्यार्थ) लोकप्रसिद्ध ही है । इसका औचित्य यह कहकर दिखाया है कि "उपमा आदि अनेक प्रकार से वह प्रदर्शित भी

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ ४ ॥

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्याद्वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् । यत्तत्सहृदयसुप्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽलङ्कृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वावयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवाङ्गनासु । यथा ह्यङ्गनासु लावण्यं पृथङ् निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामृतं तत्त्वान्तरं तद्वदेव सोऽर्थः ।

लोचन

अन्यदेव वस्त्विति । पुनश्शब्दो वाच्याद्विशेषद्योतकः । तद्व्यतिरिक्त सारभूतं चेत्यर्थः । महाकवीनामिति बहुवचनमशेषविषयव्यापकत्वमाह । एतदभिधास्यमानप्रतीयमानानुप्राणितकाव्यनिर्माणनिपुणप्रतिभाभाजनत्वेनैव महाकविव्यपदेशो भवतीति भावः । यदेवंविधमस्ति तद्भाति । न ह्यत्यन्तासतो भानमुपपन्नम् ; रजताद्यपि नात्यन्तमसद्भाति । अनेन सत्त्वप्रयुक्त तावद्भानमिति भानात्सत्त्वमवगम्यते ।

रश्मि

है ।" कारिका में प्रयुक्त 'अन्यैः' शब्द की व्याख्या 'काव्यलक्षणविधायिभिः' द्वारा की है । 'ततो नेह प्रतन्यते' में विशेष रूप के प्रतिपादन (प्रतनन) का निषेध करके आगे केवलमित्यादि कहकर, शेष अर्थात् केवल अनुवदन (उल्लेख मात्र) की स्वीकृति दिखाई है ॥३॥

कारिका में 'पुनः' शब्द वाच्य से भिन्नता बता रहा है । ('अन्यदेव वस्तु' का अर्थ है—) वह प्रतीयमान भाग वाच्य से व्यतिरिक्त तथा सार अर्थात् उत्तम अंश है । 'महाकवीनाम्' और 'वाणीषु' में बहुवचन का प्रयोग सब (महाकवियों की वाणी रूप) विषय में प्रतीयमान का व्यापकत्व बताता है । अर्थात् इस ग्रन्थ में जो कहा जाने वाला है उस प्रतीयमान से अनुप्राणित काव्य के निर्माण में निपुण प्रतिभा से युक्त होने पर ही महाकवि पद मिलता है । चूँकि प्रतीयमान अर्थ पूर्वोक्त प्रकार का होता है, तभी तो वह सुशोभित होता है ।*

यदि उसकी सत्ता ही न होती तो वह शोभा भी न देता (जैसे वन्ध्यापुत्र, शशविषाण आदि ।) रजत आदि भी (सीपी आदि में) अत्यन्त असद् (सत्ताहीन वस्तु के) रूप में नहीं सुशोभित होते हैं । (अपितु बाजार में सुन्दरियों के आभूषण आदि के रूप में वह एक सत्तावान् वस्तु है, यहाँ सीपी में साधर्म्यवश भ्रान्त्या आरो-

*यहाँ कौमुदीकार ने लोचनकार के इस अनुमान वाक्य की इस प्रकार व्याख्या की है—"भासमानत्वसत्त्वयोः व्याप्तिप्रदर्शनद्वारा भासमानत्वलिङ्गकं सत्त्वविषयमनुमानं प्रमाणमुपन्यस्तम् ।"

स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलङ्काररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्यादन्यत्वम् ।

लोचन

तेन यद्भाति तदस्ति तथेत्युक्तं भवति । तेनायं प्रयोगार्थः—प्रसिद्धं वाच्यं धर्मि प्रतीयमानेन व्यतिरिक्तेन तद्वत् , तथा भासमानत्वात् लावण्योपेताङ्गनाङ्गवत् । प्रसिद्धशब्दस्य सर्वप्रतीतत्वमलङ्कृतत्वं चार्थः । यत्तदिति सर्वनामसमुदायश्चमत्कारसारताप्रकटीकरणार्थमव्यपदेश्यत्वमन्योन्यसंवलनाकृतं चाव्यतिरेकभ्रमं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्दर्शयति । एतच्च किमपीत्यादिना व्याचष्टे । लावण्यं हि नामावयवसंस्थानाभिव्यङ्ग्यमवयवव्यतिरिक्तं धर्मान्तरमेव । न चावयवानामेव निर्दोषता वा भूषणयोगो वा लावण्यम् , पृथङ्निर्वर्ण्यमानकाणादिदोषशून्यशरीरावयवयोगिन्यामप्यलङ्कृतायामपि लावण्यशून्येयमिति , अतथाभूतायामपि कस्याञ्चिल्लावण्यामृतचन्द्रिकेयमिति सहृदयानां व्यवहारात् ।

ननु लावण्यं तावद्व्यतिरिक्तं प्रथितम् । प्रतीयमानं किं तदित्येव न जानीमः, दूरे तु व्यतिरेकप्रथेति । तथा भासमानत्वमसिद्धो हेतुरित्याशङ्क्य स ह्यर्थ इत्यादिना

रश्मि

प्यमाण है ।) सत्ता द्वारा प्रेरित (उत्पादित) उसकी शोभा ही उसकी सत्ता का बोध कराती है । अतः जो जैसा सुशोभित होता है, उसकी वैसी सत्ता होती है । इस परार्थानुमान रूप न्याय-वाक्य का प्रयोग इस प्रकार होगा—धर्मी रूप प्रसिद्ध वाच्य, अपने से भिन्न प्रतीयमान से युक्त है (साध्य); प्रतीयमान से युक्त होकर भासित होने के कारण (हेतु); लावण्ययुक्त अङ्गना के अङ्ग के समान (दृष्टान्त) । 'प्रसिद्ध' का अर्थ है—सबकी प्रतीति में आने वाला तथा अलङ्कृत । 'यत्तद्'—इन दोनों सर्वनामों का (समुदाय रूप से) सहप्रयोग करके यह दिखाया है कि जैसे लावण्य के उसी प्रकार प्रतीयमान के स्वरूप में चमत्कार ही प्रधान तत्त्व होता है, उन (दोनों) का नाम कुछ नहीं रख सकते अर्थात् वे अनिर्वचनीय होते हैं, तथा जैसे अङ्ग और लावण्य में उसी प्रकार वाच्य और प्रतीयमान में ऐक्य का भ्रम हो जाता है । इसी बात की व्याख्या वृत्ति में 'किमपि' इत्यादि के द्वारा की है । अङ्गों के संगठन द्वारा अभिव्यक्त (प्रकट) होने वाले, परन्तु अवयवों से भिन्न दूसरे ही धर्म को लावण्य कहते हैं । अवयवों का ही निर्दोष होना अथवा अलङ्कारयुक्त होना लावण्य नहीं है । क्योंकि, पृथक् रूप से साफ़ दिखाई देने वाले काणादि दोषों से रहित अवयवों से युक्ता और अलङ्कृता होने पर भी किसी युवती के प्रति 'यह लावण्यशून्या है,' तथा दोषयुक्ता और अनलङ्कृता होने पर भी किसी रमणी के प्रति 'यह लावण्य की चन्द्रिका है'—इस प्रकार सहृदय लोग वाक्य प्रयोग करते हैं ।

शङ्का करते हैं कि "लावण्य तो अङ्गों से एक भिन्न वस्तु रूप प्रसिद्ध है । परन्तु

लोचन

स्वरूपं तस्याभिधत्ते । सर्वेषु चेत्यादिना च व्यतिरेकप्रथां साधयिष्यति । तत्र प्रतीयमानस्य तावद्द्वौ भेदौ—लौकिकः, काव्यव्यापारैकगोचरश्चेति । लौकिको यः स्वशब्दवाच्यतां कदाचिदधिशेते, स च विधिनिषेधाद्यनेकप्रकारो वस्तुशब्देनोच्यते । सोऽपि द्विविधः—यः पूर्वं क्वापि वाक्यार्थेऽलङ्कारभावमुपमादिरूपतयान्वभूत्, इदानीं त्वनलङ्काररूप एवान्यत्र गुणीभावाभावात्, स पूर्वप्रत्यभिज्ञानबलादलङ्कारध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणश्रमणन्यायेन । तद्रूपताभावेन तूपलक्षितं वस्तुमात्रमुच्यते । मात्रग्रहणेन हि रूपान्तरं

रश्मि

प्रतीयमान है क्या ?—हम यही नहीं जानते—फिर वाच्य से उसकी भिन्नता आदि की प्रसिद्धि तो दूर की बात है । अतः आपने जो भासमानत्व हेतु देकर उसकी सत्ता सिद्ध की थी वह हेतु ही स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास हो जाएगा ।"*

'स ह्यर्थ' इत्यादि के द्वारा उस प्रतीयमन का स्वरूप कहते हैं । तथा 'सर्वेषु च' इत्यादि के द्वारा उस प्रतीयमान का वाच्य से भिन्न होना सिद्ध करेंगे । प्रतीयमान के सर्वप्रथम दो भेद होते हैं—लौकिक और केवल काव्य के क्षेत्र में दिखाई पड़ने वाला (लोकोत्तर) । लौकिक प्रतीयमान अर्थ वह है जो कभी (अन्य शब्दों द्वारा) वाच्य रूप से भी कहा जा सके । वह विधिनिषेधादि अनेक प्रकारों का होता है और उसके लिए 'वस्तु' शब्द प्रयुक्त किया जाता है । वह (वस्तु—ध्वनि) भी दो प्रकार की है जो वाक्यार्थ में (वाच्यत्वावस्था में) कभी उपमादि रूप से अलङ्कार भाव का अनुभव कर चुकी हो, किन्तु अब (व्यङ्ग्यत्वावस्था में) वस्तुतः अलङ्कार रूप नहीं है क्योंकि वाच्यार्थ रूप में अलङ्कार होने के कारण इसकी जो गौण स्थिति थी वह अब नहीं है । उसे पूर्व-परिचय के नाते ब्राह्मणश्रमणन्याय के अनुसार अलङ्कार-ध्वनि इसलिए कहते हैं (क्योंकि पहले वह अलङ्कार था) । अलङ्काररूपता से रहित होने पर वही लौकिक प्रतीयमान अर्थ, वस्तु मात्र कहलाता है । 'मात्र' कहने से अलङ्काररूपता

*वक्रोक्तिजीवितकार ने प्रथम उन्मेष में कुछ इसी प्रकार आक्षेप किया है—ननु च कैश्चित् प्रतीयमानं वस्तु ललनालावण्यसाम्यात् लावण्यमित्युत्पादित प्रतीति—'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इति । तत्कथं बन्ध-सौन्दर्यमात्रं लावण्यमित्यभिधीयते ? नैष दोषः । यस्मादनेन दृष्टान्तेन वाच्यवाचकलक्षणप्रसिद्धावयवव्यतिरिक्तत्वेनास्तित्वमात्रं साध्यते प्रतीयमानस्य । न पुनः सकललोकलोचनसंवेद्यस्य ललनालावण्यस्य सहृदयहृदयानामेव संवेद्यं सत् प्रतीयमानं समीकर्तुं पार्यते । तस्य बन्धसौन्दर्यमेव अव्युत्पन्नपदपदार्थानामपि श्रवणमात्रेणैव हृदयहारित्वस्पर्धया व्यपदिश्यते प्रतीयमानं पुनः काव्यपरमार्थज्ञानामेवानुभवगोचरतां प्रतिपद्यते, यथा कामिनीनां किमपि सौभाग्यं तदुपभोगोचितानां नायकानामेव संवेद्यतामर्हति । लावण्यं पुनस्तासामेव सत्कविगिरामिव सौन्दर्यं सकललोकगोचरतामायातीत्युक्तमेवेत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

लोचन

निराकृतम् । यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः, किं तु शब्द-समर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमार-स्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः, स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति, स एव मुख्यतयात्मेति ।

यदूचे भट्टनायकेन—'अंशत्वं न रूपता' इति, तद्वस्त्वलङ्कारध्वन्योरेव यदि नामोपालम्भः, रसध्वनिस्तु तेनैवात्मतयाङ्गीकृतः, रसचर्वणात्मनस्तृतीयस्यांशस्याभिधाभावनांशद्वयोत्तीर्णत्वेन निर्णयात्, वस्त्वलङ्कारध्वन्यो रसध्वनिपर्यन्तत्वमेवेति वयमेव वक्ष्यामस्तत्र तत्रेत्यास्तां तावत् । वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तमिति भेदत्रयव्यापकं सामान्यलक्षणम् । यद्यपि हि ध्वननं शब्दस्यैव व्यापारः, तथाप्यर्थसामर्थ्यस्य सहकारिणः सर्वत्रानपायाद्वाच्य-

रश्मि

वाले प्रकार का निराकरण कर दिया । किन्तु, जो स्वप्न में भी अपने शब्द का वाच्यार्थ रूप नहीं हो सकता और न लौकिक व्यवहार में ही आ सकता है; किन्तु शब्दों द्वारा कहे हुए, हृदय के साथ सङ्गत होने के कारण सुन्दर विभावानुभावों के अनुकूल (समुचित), पहले से विनिविष्ट जो रत्यादि वासना उसके उद्बोधन से मनोहर जो अपनी बुद्धि (संवित्) का आनन्दमय चर्वणा व्यापार उसके द्वारा रसनीय रूप है—वही रस कहा जाता है,—वह केवल काव्य में ही दिखाई पड़ने वाली रस-ध्वनि है, वह केवल ध्वनि-रूप ही है (वाच्य-रूप नहीं) और वही वास्तव में काव्य की आत्मारूप है ।

'ध्वनि, काव्य की आत्मा रूप नहीं, वरन् अंशमात्र हो सकता है'—भट्टनायक का यह कथन केवल वस्तु और अलङ्कार ध्वनियों के लिए आत्मत्वनिषेधरूप आक्षेप हो सकता है । रसध्वनि को तो स्वयं भट्टनायक भी काव्य की आत्मा रूप मानते हैं, क्योंकि ध्वनि के रसचर्वणात्मक तृतीयांश को उन्होंने अभिधा और भावना से भिन्न (भोजकत्व रूप में) माना है । उपर्युक्त स्थलों पर हम स्वयं भी बताते जाएँगे कि वस्तु और अलङ्कार ध्वनियों का पर्यवसान रस-ध्वनि में ही होता है, अतः यहाँ इतना ही रहने दें । वस्तुमात्र, अलङ्कार और रसादि ये तीनों ही प्रतीयमान, वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त होते हैं ।*

---

*यद्यपि 'वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तम्' एकवचन नपुंसकलिङ्ग में कहा गया है किन्तु उसे केवल वस्तुमात्रम् का ही विशेषण नहीं समझना चाहिए, अपितु वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त च वाच्यसामर्थ्याक्षिप्ताश्चेति वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तम् इस प्रकार 'नपुंसकमनपुंसकेनैक—वच्चास्यान्यतरस्याम्,' इस पाणिनिसूत्र से एकशेष हुआ है जो स्वभावतया एकवचन और नपुंसकलिङ्ग में रहेगा ।

तथा ह्याद्यस्तावत्प्रभेदो वाच्याद्दूरं विभेदवान् । स हि कदाचिद्वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूपः । यथा—

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण ।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥

लोचन

सामर्थ्याक्षिप्तत्वम् । शब्दशक्तिमूलानुरणनव्यङ्ग्येऽप्यर्थसामर्थ्यादेव प्रतीयमानावगतिः, शब्दशक्तिः केवलमवान्तरसहकारिणीति वक्ष्यामः ।

दूरं विभेदवानिति । विधिनिषेधौ विरुद्धाविति न कस्यचिदपि विमतिः । एतदर्थं प्रथमं तावेवोदाहरति—

'भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन ॥'

कस्याश्चित्सङ्केतस्थानं जीवितसर्वस्वायमानं धार्मिकसञ्चरणान्तरायदोषात्तदवलुप्यमानपल्लवकुसुमादिविच्छायीकरणाच्च परित्रातुमियमुक्तिः । तत्र स्वतःसिद्धमपि भ्रमणं श्वभयेनापोदितमिति प्रतिप्रसवात्मको निषेधाभावरूपः, न तु नियोगः प्रैषादिरूपोऽत्र विधिः;

रश्मि

यद्यपि ध्वनन शब्द का व्यापार है तथापि वाच्यार्थसामर्थ्य के सहकारी रूप में सर्वत्र रहने के कारण वृत्ति में 'वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त' कहा है । शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यङ्ग्य में भी वाच्यार्थ की सामर्थ्य के द्वारा ही प्रतीयमान अर्थ का बोध होता है, शब्दशक्ति तो वाच्यार्थ की सहकारिणी होती है ।*

दूरं विभेदवानिति । विधि और निषेध विरोधी होते हैं इसमें तो किसी को सन्देह नहीं । अतः सर्वप्रथम उन्हीं का उदाहरण देते हैं—

'भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन ॥

किसी नायिका के प्राणप्रिय (जीवितसर्वस्वरूप) सङ्केत-स्थान को धार्मिक के सञ्चरण-रूप विघ्नदोष से, तथा उसके पुष्पपल्लवादि ले लेने के कारण शोभाहीन होने से बचाने के लिए नायिका का यह कथन है । यहाँ स्वतःसिद्ध होतेहुए भी भ्रमण कुत्ते के भय से प्रतिषिद्ध है, अतः उस प्रतिषेध का निवर्त्तन करने वाली विधि प्रतिप्रसवा-

---

*इस विषय में 'काव्यप्रकाश' की दो कारिकाएँ उल्लेखनीय हैं:—

(१) तद्युक्तः व्यञ्जकः शब्दो यत् सोऽर्थान्तरयुक्तथा ।
अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥२-२०॥

(२) शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥३-२३ ॥

लोचन

अतिसर्गप्रातकालयोर्ह्ययं लोट्। तत्र भावतदभावयोर्विरोधाद्द्वयोस्तावन्न युगपद्वाच्यता, न क्रमेण, विरम्य व्यापाराभावात्। 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्' इत्यादिनाभिधाव्यापारस्य विरम्य व्यापारासंभवाभिधानात्।

ननु तात्पर्यशक्तिरपर्यवसिता विवक्षया दृप्तधार्मिकतदादिपदार्थानन्वयरूपमुख्यार्थबाध-बलेन विरोधनिमित्तया विपरीतलक्षणया च वाक्यार्थीभूतनिषेधप्रतीतिमभिहितान्वयदृशा करोतीति शब्दशक्तिमूल एव सोऽर्थः। एवमनेनोक्तमिति हि व्यवहारः, तन्न वाच्यातिरिक्तोऽन्योऽर्थ इति।

नैतत्; त्रयो ह्यत्र व्यापाराः संवेद्यन्ते—पदार्थेषु सामान्यात्मस्वभिधाव्यापारः, समयापेक्षयार्थावगमनशक्तिर्ह्यभिधा। समयश्च तावत्येव, न विशेषांशे, आनन्त्याद्व्यभिचारा-

रश्मि

त्मक (अपवाद का अपवाद अर्थात् मूल का समर्थक रूप) है, प्रैषादिरूप (आज्ञा-रूप) नहीं। (स्वतःसिद्ध का अर्थ यह है कि यहाँ) अतिसर्ग (परकीयाभिलषितविषयक अनुमोदन) और प्रातकाल के अर्थ में लोट् का प्रयोग है।*

भाव (विधि) और अभाव (निषेध) रूपों में विरोध होने के कारण ये दोनों (भाव अभावरूप अर्थ) एक साथ वाच्यार्थ नहीं हो सकते। और न क्रम से ही (वाच्यार्थ) हो सकते हैं, क्योंकि विराम होने पर पुनः अभिधादि शब्द-व्यापार प्रवृत्त नहीं होता।—'विशेषण (गोत्वादि जाति रूप अर्थ) में ही शक्ति क्षीण हो जाने से अभिधा, विशेष्य, (डित्थादि व्यक्तिरूप अर्थ) तक नहीं पहुँचती।'

अभिहितान्वयवादी यह शङ्का उठा सकते हैं कि (यहाँ निषेध अर्थ की) विवक्षा के कारण अभी तक अपर्यवसित तात्पर्यशक्ति ही, 'दृप्त', 'धार्मिक' और 'सः आदि पदों के अर्थों का वाक्यार्थ से अनन्वयरूप मुख्यार्थबाध होने के कारण, विरोध-निमित्तक विपरीतलक्षणा द्वारा वाक्यार्थीभूत निषेध की प्रतीति कराती है अतः वह प्रतीयमान अर्थ भी अभिधामूलक ही है। 'इस प्रकार इसने कहा'—यह व्यवहार भी होता है—('व्यञ्जित किया' यह नहीं)। अतः वाच्य से भिन्न अन्य अर्थ नहीं है।

(अभिहितान्वयवादियां के इस मत में सुधार करते हुए लोचनकार कहते हैं कि) यह ठीक नहीं है अभिहितान्वयवादियों का यहाँ (लोक में) शब्द के तीन व्यापार मान्य हैं। जातिपरक पदों के अर्थों में अभिधा व्यापार होता है। सङ्केत की

*इसकी व्याख्या कौमुदीकार ने बड़ी युक्ति से की है—नियोगो हि अप्रवृत्त-प्रवर्तनात्मको मुख्यतयावस्थितो विधिः प्रसिद्धः···इह तु नासावुक्तरूपो विधिः सम्भवति प्रवृत्तपुरुषविषयत्वात्, अतः प्रवृत्तिप्रतिबन्धकप्रतिषेधेन प्रवृत्तिहेतुत्वस्य प्रतिषेधाभावे विधौ च तुल्यत्वात् उपचारात् प्रतिषेधाभावोऽपि विधिरित्युच्यते।

लोचन

च्चैकस्य। ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्तिः परस्परान्विते, 'सामान्यान्यन्यथासिद्धे-र्विशेषं गमयन्ति हि' इति न्यायात्। तत्र च द्वितीयकक्ष्यायां 'भ्रमे' ति विध्यतिरिक्तं न किञ्चित्प्रतीयते, अन्वयमात्रस्यैव प्रतिपन्नत्वात्। न हि 'गङ्गायां घोषः' 'सिंहो बटुः' इत्यत्र यथान्वय एव बुभूषन् प्रतिहन्यते, योग्यताविरहात्; तथा तव भ्रमणनिषेद्धा स श्वा सिंहेन हतः तदिदानीं भ्रमणनिषेधकारणवैकल्याद्भ्रमणं तवोचितमित्यन्वयस्य काचित्क्षतिः। अत एव मुख्यार्थबाधा नात्र शङ्क्येति न विपरीतलक्षणाया अवसरः।

भवतु वासौ। तथापि द्वितीयस्थानसंक्रान्ता तावदसौ न भवति। तथा हि—मुख्यार्थबाधायां लक्षणायाः प्रक्लृप्तिः। बाधा च विरोधप्रतीतिरेव। न चात्र पदार्थानां स्वात्मनि विरोधः। परस्परं विरोध इति चेत्—सोऽयं तर्ह्यन्वये विरोधः प्रत्येयः। न चाप्रतिपन्नेऽन्वये विरोधप्रतीतिः, प्रतिपत्तिश्चान्वयस्य नाभिधाशक्त्या, तस्याः पदार्थप्रति-पत्त्युपक्षीणाया विरम्याव्यापारात् इति तात्पर्यशक्त्यैवान्वयप्रतिपत्तिः।

रश्मि

सहायता से अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति अभिधा है। सङ्केत, सामान्य में ही होता है, एक को अर्थ मानने पर आनन्त्य और व्यभिचार दोषों के कारण व्यक्ति में सङ्केत नहीं होता। तब उन पदार्थों के परस्पर अन्वय करने पर विशेषरूप वाक्यार्थ में तात्पर्य-शक्ति होती है क्योंकि सिद्धान्त है कि "जातिपरक अर्थ, अन्य प्रकार से (अर्थात् व्यक्तिपरक अर्थ बने बिना) सिद्ध (वाक्यार्थ देने वाले) हो ही नहीं सकते, अतः वे विशेष (व्यक्ति) का बोध कराते हैं।" और द्वितीय कक्ष्या में (तात्पर्यशक्ति से) 'घूमो' इस अनुमोदन के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि उससे वाक्य का केवल अन्वित अर्थ मात्र प्रतीत होता है। जिस प्रकार 'गङ्गायां घोषः,' और 'सिंहो बटुः' इत्यादि वाक्यों में, पदों का परस्पर अन्वय ही होते समय (पदों की परस्पर मिलने की) योग्यता न होने के कारण बाधित हो जाता है—उस प्रकार यहाँ नहीं है—अर्थात् 'तुम्हें घूमने से रोकने वाला वह कुत्ता सिंह द्वारा मार डाला गया है, अतः अब भ्रमण-निषेध के कारण के नष्ट हो जाने से तुम्हारा घूमना उचित है'—इस प्रकार इन पदों के अन्वय में कोई बाधा नहीं है। अतएव यहाँ मुख्यार्थबाध की शङ्का नहीं करनी चाहिए जिससे कि विपरीत लक्षणा का अवसर ही नहीं आता।

यदि (वक्ता के औचित्य आदि के कारण) विपरीत-लक्षणा मान भी लें तो वह द्वितीय स्थान अर्थात् तात्पर्यशक्ति के स्थान पर निविष्ट नहीं की जा सकती। क्योंकि मुख्यार्थबाधा होने पर लक्षणा की कल्पना की जाती है। विरोध का प्रतिभान होना ही बाधा है। (नृश्रृङ्ग आदि शब्दों की भाँति) 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि श्लोक के पदों का स्वात्मनि (अपना सङ्केतित अर्थ देने में) विरोध तो है नहीं यदि (पदार्थों

लोचन

नन्वेवं 'अङ्गुल्यग्रे करिवरशतम्' इत्यत्राप्यन्वयप्रतीतिः स्यात्। किं न भवत्यन्वयप्रतीतिः दशदाडिमादिवाक्यवत्, किन्तु प्रमाणान्तरेण सोऽन्वयः प्रत्यक्षादिना बाधितः प्रतिपन्नोऽपि शुक्तिकायां रजतमिवेति तदवगमकारिणो वाक्यस्याप्रामाण्यम्। 'सिंहो माणवकः' इत्यत्र द्वितीयकक्ष्यानिविष्टतात्पर्यशक्तिसमर्पितान्वयबाधकोल्लासानन्तरमभिधातात्पर्यशक्तिद्वयव्यतिरिक्ता तावत्तृतीयैव शक्तिस्तद्बाधकविधुरीकरणनिपुणा लक्षणाभिधाना समुल्लसति।

नन्वेवं 'सिंहो वटुः' इत्यत्रापि काव्यरूपता स्यात्; ध्वननलक्षणस्यात्मनोऽत्रापि समनन्तरं वक्ष्यमाणतया भावात्। ननु घटेऽपि जीवव्यवहारः स्यात्; आत्मनो विभुत्वेन तत्रापि भावात्। शरीरस्य खलु विशिष्टाधिष्ठानयुक्तस्य सत्यात्मनि जीवव्यवहारः, न यस्य कस्यचिदिति चेत्—गुणालङ्कारौचित्यसुन्दरशब्दार्थशरीरस्य सति ध्वननाख्या-

रश्मि

का) परस्पर विरोध होगा तो वह अन्वय करने पर ही जाना जाएगा। अन्वय के बिना विरोध प्रतीत नहीं होता। किन्तु अन्वय का ज्ञान अभिधा से नहीं हो सकता, क्योंकि वह पदार्थ का ज्ञान कराकर ही क्षीण हो जाती है, और पुनः उसका व्यापार नहीं होता। अतः तात्पर्यशक्ति के द्वारा ही अन्वय का ज्ञान होगा।

(यदि आप बाधित अर्थ का भी अन्वय करते हैं) तो (असम्भव अर्थ वाले) 'उँगली के अग्रभाग पर सौ हाथी हैं'—इस वाक्य में भी अन्वय-प्रतीति होनी चाहिए ? (उत्तर देते हैं कि) क्यों न अन्वय-प्रतीति होगी ? क्या यह दशदाडिमादि वाक्य के समान है जो इसमें अन्वय नहीं हो सकता ? (अन्वय तो होगा ही), परन्तु अन्य प्रत्यक्षादिक प्रमाणों से (जो उँगली पर सौ हाथियों का बैठना सिद्ध नहीं कर सकते) वह बाधित हो जाता है, जैसे, सीपी में चाँदी—यह वाक्य। अतः (अन्वय के बाधित होने के कारण) वह (अङ्गुल्यग्रे आदि) वाक्य प्रमाण-स्वरूप नहीं होता। 'सिंहो माणवकः'—इस वाक्य में, द्वितीय कक्ष्या में स्थित तात्पर्य-शक्ति से बोधित होने वाले अन्वय की बाधा की प्रतीति होने पर अभिधा और तात्पर्य से भिन्न एक तृतीय ही शक्ति, जो अन्वय के बाध को दूर करने में निपुण है, जिसका नाम लक्षणा है, प्रवृत्त होती है।

प्रश्न हो सकता है कि 'सिंहो वटुः' में भी काव्यरूपता होनी चाहिए, क्योंकि ध्वनिरूप आत्मा जो अभी कही जाएगी, यहाँ भी है ? उत्तर देते हैं कि तब तो घट में भी जीव का व्यवहार होना चाहिए—क्योंकि सर्वव्यापी होने के कारण आत्मा वहाँ भी है। यदि यह कहें कि करचरणरूपी विशिष्ट अवयवसंस्थान से युक्त शरीर होने पर ही यदि उसमें आत्मा रहे तो जीव का व्यवहार करते हैं, तो (हमारा भी उत्तर है कि) इसी

लोचन

त्मनि काव्यरूपताव्यवहारः । न चात्मनोऽसारता काचिदिति च समानम् । न चैवं भक्तिरेव ध्वनिः, भक्तिर्हि लक्षणाव्यापारस्तृतीयकक्ष्यानिवेशी । चतुर्थ्यां तु कक्ष्यायां ध्वनन-व्यापारः । तथा हि—त्रितयसन्निधौ लक्षणा प्रवर्तत इति तावद्भवन्त एव वदन्ति । तत्र मुख्यार्थबाधा तावत्प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरमूला । निमित्तं च यदभिधीयते सामीप्यादि तदपि प्रमाणान्तरावगम्यमेव ।

यत्त्विदं घोषस्यातिपवित्रत्वशीतलत्वसेव्यत्वादिकं प्रयोजनमशब्दान्तरवाच्यं प्रमाणान्तराप्रतिपन्नम्, वटोर्वा पराक्रमातिशयशालित्वं, तत्र शब्दस्य न तावन्न व्यापारः । तथाहि—तत्सामीप्यात्तद्धर्मत्वानुमानमनैकान्तिकम्, सिंहशब्दवाच्यत्वं च वटोरसिद्धम् । अथ यत्र यत्रैवंशब्दप्रयोगस्तत्र तत्र तद्धर्मयोग इत्यनुमानम्, तस्यापि व्याप्तिग्रहणकाले मौलिकं प्रमाणान्तरं वाच्यम्, न चास्ति । न च स्मृतिरियम्, अननुभूते तदयोगात्,

रश्मि

प्रकार गुण, अलङ्कार के औचित्य (रसादि सम्बन्ध) से सुन्दर शब्दार्थ रूप शरीर के होने पर ही ध्वनि नामक आत्मा के रहने पर काव्यरूपता का व्यवहार होता है । (जैसे घट में आत्मा के रहने पर भी जीव नहीं कहते और न आत्मा को उससे निस्सार वस्तु मानते हैं वैसे ही) ध्वनि रूप आत्मा की लौकिक वाक्य में उसके होने पर भी, काव्य नाम न देने पर भी कुछ असारता नहीं कही जा सकती है ।

(माना अभिधा तथा तात्पर्य शक्तियाँ ध्वनि नहीं हैं, किन्तु अभी तात्पर्य के प्रसङ्ग में कही लक्षणा ही क्यों न ध्वनि मान ली जाय । इस शङ्का का निराकरण करते हैं—) इसी प्रकार भक्ति ही ध्वनि नहीं है । क्योंकि भक्ति लक्षणाव्यापार है जो तृतीय कक्ष्या में निविष्ट रहता है । और चतुर्थ कक्ष्या में ध्वनन व्यापार होता है । आप स्वयं ही कहते हैं कि मुख्यार्थबाधादि त्रय के रहने पर लक्षणा होती है । इसमें मुख्यार्थबाधा तो प्रत्यक्षादि दूसरे प्रमाण से ज्ञात होती है । तथा सामीप्यादि निमित्त भी अन्य (प्रत्यक्षादि ही) प्रमाण से मालूम होते हैं, किन्तु यह जो घोष का अतिपवित्रत्व, शीतलत्व और सेव्यत्व आदि प्रयोजन है वह किसी दूसरे शब्द का वाच्यार्थ नहीं (अपितु गङ्गा शब्द के द्वारा ही मिलता है), अन्य प्रमाण से नहीं । इसी प्रकार वटु का पराक्रमातिशयशालित्वभी है । इस प्रयोजन में शब्द का ही व्यापार है । क्योंकि यहाँ "गङ्गा के समीप होने के कारण गङ्गा के शैत्यादि धर्म से युक्त है" (घोषे पवित्रत्वं गङ्गासामीप्यात्) इस प्रकार अनुमान प्रमाण अनैकान्तिक (सव्यभिचारी) हो जायगा । और (उसी प्रकार) वटु का सिंहशब्दवाच्यत्व (वटौ शौर्यं सिंहशब्दवाच्यत्वात्) रूप हेतु स्वरूपासिद्ध है । यदि यह अनुमान करें कि 'जहाँ जहाँ लाक्षणिक शब्द का प्रयोग होगा वहाँ वहाँ उसके धर्म का योग होगा'—तो ऐसे स्थल पर भी व्याप्तिग्रहण काल में मौलिक (मूल में ही) प्रमाणान्तर बताना आवश्यक होता है, किन्तु ऐसा कोई प्रमाण है नहीं ।

लोचन

नियमाप्रतिपत्तेर्वक्तुरेतद्विवक्षितमित्यध्यवसायाभावप्रसङ्गाच्चेत्यस्ति तावदत्र शब्दस्यैव व्यापारः। व्यापारश्च नाभिधात्मा, समयाभावात्। न तात्पर्यात्मा, तस्यान्वयप्रतीतावेव परिक्षयात्। न लक्षणात्मा, उक्तादेव हेतोः स्खलद्गतित्वाभावात्। तत्रापि हि स्खलद्गतित्वे पुनर्मुख्यार्थबाधा निमित्तं प्रयोजनमित्यनवस्था स्यात्। अत एव यत्केनचिल्लक्षित-लक्षणेति नाम कृतं तद्व्यसनमात्रम्। तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः। वक्ष्यति—

'मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम्।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥ इति ॥

रश्मि

(अर्थात् उस शब्द में और उसके वाच्यार्थ के उस विशिष्ट धर्म के योग में व्यापक-व्याप्य सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिए प्रत्यक्षादि कोई प्रमाण आवश्यक है जैसे अग्नि और धूम के व्यापक-व्याप्य सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण सहायक होता है। किन्तु यहाँ इस विषय में ऐसा कोई प्रमाण नहीं सहायक होता। अतः यह अनुमान भी सिद्ध नहीं किया जा सकता।)

पावनत्वादि प्रयोजन का ज्ञान स्मृति रूप भी नहीं है, क्योंकि वह पहले से अनुभूत नहीं है तथा इस बात का कुछ नियामक नहीं कि वक्ता का यही अभीष्ट प्रयोजन है। अतः (इस प्रयोजन ज्ञान के लिए) शब्द-व्यापार से ही प्रयोजन सिद्ध होगा (अनुमान स्मृति आदि से नहीं) किन्तु यह शब्द-व्यापार, सङ्केत के अभाव के कारण, अभिधा रूप नहीं है। न तात्पर्य रूप है क्योंकि वह तो अन्वयमात्र करके ही समाप्त हो जाती है। मुख्यार्थबाधादित्रय हेतुओं का अभाव होने से और गङ्गादि शब्दों का शैत्यादि प्रयोजन बताने में स्खलद्गति न होने के कारण लक्षणा व्यापार द्वारा भी प्रयोजन का ज्ञान न होगा। क्योंकि प्रयोजन बताने में गङ्गादि शब्दों के स्खलद्गति होने पर (अर्थात् प्रयोजन को लाक्षणिक अर्थ मान लेने पर) पुनः मुख्यार्थबाध, निमित्त, प्रयोजन कल्पित करने पड़ेंगे जिससे अनवस्था दोष आ जाएगा (अर्थात् तब हर एक प्रयोजन लक्ष्यार्थ ही माना जायगा अतः उस प्रत्येक लक्षणा का भी प्रयोजन ढूँढ़ना पड़ेगा)। अतएव किसी ने व्यञ्जना का जो 'लक्षित-लक्षणा' नाम कहा है वह दुराग्रह-मात्र है। अतः अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य से विभिन्न चतुर्थ व्यापार ध्वनन, द्योतन, व्यञ्जन, प्रत्यायन, अवगमन आदि समानार्थक नामों से पुकारा जाने वाला (व्यापार) स्वीकार किया जाना चाहिए। जैसा कि (कारिकाकार) कहेंगे "जिस प्रयोजन की अपेक्षा करके, मुख्यवृत्ति को छोड़कर

लोचन

तेन समयापेक्षा वाच्यावगमनशक्तिरभिधाशक्तिः। तदन्यथानुपपत्तिसहायार्थावबोधनशक्तिस्तात्पर्यशक्तिः। मुख्यार्थबाधादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणाशक्तिः। तच्छक्तित्रयोपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः; स च प्राग्वृत्तं व्यापारत्रयं न्यक्कुर्वन्प्रधानभूतः काव्यात्मेत्याशयेन निषेधप्रमुखतया च प्रयोजनविषयोऽपि निषेधविषय इत्युक्तम्। अभ्युपगममात्रेण चैतदुक्तम्; न त्वत्र लक्षणा, अत्यन्ततिरस्कारान्यसंक्रमणयोरभावात्। न ह्यर्थशक्तिमूलेऽस्या व्यापारः। सहकारिभेदाच्च शक्तिभेदः स्पष्ट एव, यथा तस्यैव शब्दस्य व्याप्तिस्मृत्यादिसहकृतस्य विवक्षावगतावनुमापकत्वव्यापारः। अक्षादिसहकृतस्य वा विकल्पकत्वव्यापारः। एवमभिहितान्वयवादिनामियदनपह्नवनीयम्।

रश्मि

गुणवृत्ति द्वारा अर्थ का अवगमन होता है, उस प्रयोजन का बोध कराने में वह (गङ्गादि लाक्षणिक) शब्द असमर्थ हो ही नहीं सकता।"

इस (पूर्व निरूपण प्रकार) से (यह निष्कर्ष निकला कि) सङ्केत की अपेक्षा करके वाच्यार्थ का बोध कराने वाली शक्ति अभिधा है। जिसके बिना उपपत्ति (वाक्यार्थबोध) न हो सके अतः जिसका होना आवश्यक है ऐसी अर्थ का अवबोधन कराने वाली शक्ति तात्पर्य शक्ति है। मुख्यार्थबाधादित्रय की अपेक्षा करके अर्थ का प्रत्यायन कराने वाली शक्ति लक्षणा शक्ति है। उन अभिधादि तीनों शक्तियों से जनित जो अर्थबोध, उस मूल रूप से उत्पन्न जो उन उन (अभिधेयादि अर्थों का) प्रतिभास (संस्कार-रूप अवभासन) उससे पवित्रित (संस्कृत अथवा सम्पन्न) जो प्रतिपत्ता की प्रतिभा उसकी सहायता से अर्थ का द्योतन कराने वाली शक्ति ध्वनन-व्यापार है। और वह ध्वनन व्यापार, पहले से हुए तीनों व्यापारों को नगण्य करता हुआ, स्वयं प्रधान रूप से है तथा काव्य की आत्मा है—इसी आशय से, यद्यपि वह व्यञ्जना व्यापार केवल प्रयोजन प्रतिपादन करने वाला होता है, फिर भी (यहाँ इस उदाहरण में) उसका निषेध रूप प्रधान होने के कारण (जो वस्तुतः प्रयोजन रूप ही है) (वृत्ति में) वह व्यञ्जना-व्यापार निषेधविषयक होता है इत्यादि कहा है। केवल अभ्युपगम अर्थात् पूर्वपक्ष रूप से यहाँ यह ('भवतु वासौ'—इत्यादि रूप में लक्षणादि के बाद प्रयोजन प्रतिपादन करने वाली व्यञ्जना का होना आदि) कहा गया है। वस्तुतः यहाँ लक्षणा नहीं है क्योंकि यहाँ अभिधेय अर्थ का न अत्यन्त तिरस्कार है और न अर्थान्तरसंक्रमण है (और लक्षणामूलक ध्वनि के ये ही दो रूप हैं।) अर्थशक्तिमूलध्वनि में तो लक्षणा का व्यापार होता ही नहीं। (क्योंकि अर्थशक्तिमूलक ध्वनि व्यापार के

लोचन

योऽप्यन्विताभिधानवादी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति हृदये ग्रहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति, तस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तदेकोऽसाविति कुतः ? भिन्नविषयत्वात् । अथानेकोऽसौ ? तद्विषयसहकारिभेदादसजातीय एव युक्तः। सजातीये च कार्ये विरम्यव्यापारः शब्दकर्मबुद्धयादीनां पदार्थविद्भिर्निषिद्धः। असजातीये चास्मन्नय एव ।

अथ योऽसौ चतुर्थकक्ष्यानिविष्टोऽर्थः, स एव झटिति वाक्येनाभिधीयत इत्येवंविधं दीर्घदीर्घत्वं विवक्षितम्, तर्हि तत्र सङ्केताकरणात्कथं साक्षात्प्रतिपत्तिः।

रश्मि

वक्तृबोद्धव्यादि वैशिष्ट्य सहकारी हैं और लक्षणा के मुख्यार्थबाधादि) और सहकारी के भेद से शक्तियों में भी भेद स्पष्ट ही है। जैसे वही शब्द जब व्याप्ति-स्मृति आदि की सहायता से विवक्षाबोध करता है तो उसका अनुमापकत्व (अनुमान) व्यापार होता है। अथवा जैसे इन्द्रिय आदि की सहायता से शब्द का सविकल्पक व्यापार होता है।*

इस प्रकार अभिहितान्वयवादियों को इतना (त्रयोऽत्र व्यापाराः से विकल्पकत्व व्यापारः तक का विवेचन) मानना ही पड़ेगा।

और जो अन्विताभिधानवादी "शब्द का प्रधान प्रतिपाद्य तात्पर्य ही शब्दार्थ है" यह सिद्धान्त मन में रखकर अभिधा व्यापार को शर-व्यापार के समान अत्यन्त दीर्घ मानते हैं उसका यदि दीर्घ ही व्यापार है तो वह एक कैसे हो सकता है—क्योंकि उस व्यापार के विषय (अर्थ) विभिन्न (अनेक) हैं। और यदि वह व्यापार अनेक-रूप है तो विषय (प्रतिपाद्य अर्थ) तथा सहकारो (सङ्केत, मुख्यार्थबाधादित्रय, वक्तृ-वैशिष्ट्यादि) के भेद से वह सब (व्यापार)परस्पर भिन्न और असजातीय ही माना जाना चाहिए। सभी अर्थों को सजातीय मानने पर, शब्द-बुद्धि-कर्म आदि का रुककर पुनः व्यापार, पदार्थज्ञानियों (मीमांसा, व्याकरण, न्यायादि के विद्वानों) ने नहीं माना है। और यदि (अनेक व्यापार के) असजातीय अर्थ मानते हैं तो हमारा ही सिद्धान्त रहता है। यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि "जो चतुर्थकक्ष्यानिविष्ट व्यङ्ग्य अर्थ है, वही वाक्य कहने के साथ शीघ्र बोधित हो जाता है इस प्रकार की (अभिधा व्यापार की)

---

*सौगतों के इस मत की कौमुदी में सुन्दर शब्दों में व्याख्या की गई है—देवदत्त इत्यादयो हि नामशब्दाः स्वसंजल्पितं वस्तु प्रत्यक्षमवगमयन्तश्चक्षुरादय इव सविकल्पकज्ञानोत्पादने व्याप्रियन्ते। यथाहुः—

" संज्ञा हि स्मर्यमाणापि प्रत्यक्षत्वं न बाधते।
संज्ञिनः सा तटस्था हि न रूपाच्छादनक्षमा ॥"

लोचन

निमित्तेषु सङ्केतः, नैमित्तिकस्त्वसावर्थस्संकेतानपेक्ष एवेति चेत्—पश्यत श्रोत्रियस्योक्तिकौशलम् । यो ह्यसौ पर्यन्तकक्ष्याभाग्यर्थः प्रथमं प्रतीतिपथमवतीर्णः, तस्य पश्चात्तनाः पदार्थावगमाः निमित्तभावं गच्छन्तीति नूनं मीमांसकस्य प्रपौत्रं प्रति नैमित्तिकत्वमभिमतम् ।

अथोच्यते—पूर्वं तत्र सङ्केतग्रहणसंस्कृतस्य तथा प्रतिपत्तिर्भवतीत्यमुया वस्तुस्थित्या निमित्तत्वं पदार्थानाम्, तर्हि तदनुसरणोपयोगि न किञ्चिदप्युक्तं स्यात् । न चापि प्राक्पदार्थेषु सङ्केतग्रहणं वृत्तम्, अन्वितानामेव सर्वदा प्रयोगात् । आवापोद्वापाभ्यां तथाभाव इति चेत्—सङ्केतः पदार्थमात्र एवेत्यभ्युपगमे पाश्चात्यैव विशेषप्रतीतिः ।

अथोच्यते—दृष्टैव झटिति तात्पर्यप्रतिपत्तिः किमत्र कुर्म इति । तदिदं वयमपि

रश्मि

दीर्घदीर्घतरता विवक्षित है", (तो प्रश्न यह है कि उस चतुर्थकक्ष्यानिविष्ट अर्थ के प्रति शब्द या शब्दों का साक्षात्) सङ्केत न होने के कारण कैसे उसकी साक्षात् प्रतिपत्ति होगी ? अब यदि पूर्वपक्षी (मीमांसक) यह कहे कि सङ्केत तो निमित्त (वाच्यार्थ) में होता है, नैमित्तिक (व्यङ्ग्यार्थ) को सङ्केत की अपेक्षा नहीं,—तो जरा श्रोत्रिय का उक्तिकौशल तो देखिए । अन्त्यकक्ष्याभागी अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) तो प्रथम प्रतीत हो रहा है और उसके बाद होने वाले वाच्यादिक-पदार्थबोध उसके निमित्त बन रहे हैं । निश्चय ही मीमांसक को यह मान्य है कि उसका प्रपौत्र उसका निमित्त होगा वह स्वयं निमित्त से उत्पन्न होने वाले नैमित्तिक हैं जो पहले ही पैदा हो गए ।

अब यदि (मीमांसक) यह कहें कि—पहले से सङ्केत ग्रहण करने के कारण संस्कृत हुए प्रतिपत्ता को व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति झटिति हो जाती है, और इस प्रकार पदार्थों का (व्यङ्ग्यार्थ के प्रति) निमित्तत्व तो स्वाभाविक ही है, तो उत्तर देते हैं कि यह तो अपने मत के अनुसार व्यङ्ग्यार्थानुसरण के लिए कोई उपयोगी बात न कही गई । और फिर (गुरु मीमांसक मत में) तो पदार्थों का पहले से सङ्केत होता ही नहीं क्योंकि वहाँ तो वाक्य में अन्वित ही पदार्थों का प्रयोग (सङ्केत ग्रहण) होता है । यदि आवापोद्वाप (आक्षेप प्रक्षेप) *

---

*आवापोद्वाप को कौमुदीकार ने इस प्रकार समझाया है—गामानय इति वाक्ये यत् आनयेतिपदं तस्योद्वापे बधानेति-पदप्रक्षेपे च आनयनार्थस्योद्धारात् बन्धनलक्षणस्य चावापात् अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् आनयेति पदांशस्य आनयनांशो गृह्यते । एवं प्रयोगान्तरेषु पदान्तराणां प्रातिस्विकार्थेषु सङ्केतग्रहः सुलभ एव । यदाहु :—

सामान्यतः प्रथममेष पदार्थपिण्डो वाच्योऽस्य वाचकमिदं पदपिण्डरूपम् ।
इत्याकलय्यपुनरेष विशेषतोऽपिशब्दार्थसङ्गतिमवैति जनस्तटस्थः ॥

लोचन

न नाङ्गीकुर्मः । यद्वक्ष्यामः—

तद्वत्सचेतसां सोऽर्थो वाक्यार्थविमुखात्मनाम् ।
बुद्धौ तत्त्वावभासिन्यां झटित्येवावभासते ॥ इति ॥

किं तु सातिशयानुशीलनाभ्यासात्तत्र सम्भाव्यमानोऽपि क्रमः सजातीयतद्विकल्पपरम्परानुदयादभ्यस्तविषयव्याप्तिसमयस्मृतिक्रमवन्न संवेद्यत इति । निमित्तनैमित्तिकभावश्चावश्याश्रयणीयः, अन्यथा गौणलाक्षणिकयोर्मुख्याद्भेदः 'श्रुतिलिङ्गादिप्रमाणषट्कस्य पारदौर्बल्यम्' इत्यादिप्रक्रियाविघातः, निमित्ततावैचित्र्येणैवास्याः समर्थितत्वात् । निमित्ततावैचित्र्ये चाभ्युपगते किमपरमस्मास्वसूयया ।

येऽप्यविभक्तं स्फोटं वाक्यं तदर्थं चाहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः सर्वेयमनुसरणीया

रश्मि

से पृथक् पृथक् पदार्थों में सङ्केत-ग्रहण मानें, तब तो आपके सिद्धान्त से ही विरोध होगा, क्योंकि सङ्केत पदार्थ-मात्र में मान लेने पर विशेष रूप वाक्यार्थ की प्रतीति बाद में ही होगी ।

अब यदि (मीमांसक) यह कहे "शीघ्र व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति दिखाई पड़ ही जाती है—इसमें हम क्या करें ?" तो यह बात तो हम भी अस्वीकार नहीं करते हैं। जैसा हम स्वयं कहेंगे—'वाच्यार्थ से विमुख सहृदयों की तत्त्वदर्शनसमर्थ बुद्धि में वह प्रतीयमान अर्थ तुरन्त ही प्रतीत हो जाता है ।' किन्तु (काव्य-वाक्यार्थ के) अत्यन्त अनुशीलन के अभ्यासवश वाच्यार्थादि पदार्थरूप समान प्रतीतियों की परम्परा प्रकट न होने के कारण (व्यङ्ग्य और वाच्य के बीच विद्यमान) क्रम का पता नहीं चलता, जैसे अनुमान में व्याप्तिविषय के अभ्यास होने से हर बार उसकी स्मृति का क्रम रहते हुए भी नहीं उठता, अथवा जैसे शाब्द-बोध में सङ्केत की स्मृति रहती हुई भी बार बार नहीं करनी पड़ती । निमित्त और नैमित्तिक भाव तो अवश्य मानना पड़ेगा अन्यथा (आप मीमांसकों के) गौण और लाक्षणिक अर्थों का मुख्यार्थ से भेद; और श्रुतिलिङ्गादि छः प्रमाणों का पारदौर्बल्य—इत्यादि प्रक्रियाओं की क्षति हो जायगी, क्योंकि निमित्तता के भेद के कारण ही ये प्रक्रियाएँ सम्भव होती हैं। और यदि आपको निमित्तों की विचित्ररूपता स्वीकार है तो फिर हमसे ईर्ष्या करने से क्या लाभ ?

जिन वैयाकरणों ने वाक्य और उसके अर्थ को अखण्ड स्फोट कहा है, *

*जैसा कि डा० शङ्करन् 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद् विभागे स्यात्' (मीमांसा सूत्र २।१।४८) का प्रमाण देते हुए कहते हैं—

"As the individual sounds of a word are incapable of conveying any idea and hence are unreal, similarly separate words which convey only stray concepts and not any complete idea are unreal (or अमुख्य) for sentences alone have been recog-

लोचन

प्रक्रिया। तदुत्तीर्णत्वे तु सर्वं परमेश्वराद्वयं ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रकारेण न न विदितं तत्वालोकग्रन्थं विरचयतेत्यास्ताम्।

यत्तु भट्टनायकेनोक्तम्—इह दृप्तसिंहादिपदप्रयोगे च धार्मिकपदप्रयोगे च भयानकरसावेशकृतैव निषेधावगतिः तदीयभीरुवीरत्वप्रकृतिनियमावगममन्तरेणैकान्ततो निषेधावगत्यभावादिति तन्न केवलार्थसामर्थ्यं निषेधावगतेर्निमित्तमिति। तत्रोच्यते—केनोक्तमेतत् 'वक्तृप्रतिपत्तृविशेषावगमविरहेण शब्दगतध्वननव्यापारविरहेण च निषेधावगतिः' इति। प्रतिपत्तृप्रतिभासहकारित्वं ह्यस्माभिर्द्योतनस्य प्राणत्वेनोक्तम्। भयानकरसावेशश्च न निवार्यते, तस्य भयमात्रोत्पत्त्यभ्युपगमात्। प्रतिपत्तुश्च रसावेशो रसाभिव्यक्त्यैव। रसश्च व्यङ्ग्य एव, तस्य च शब्दवाच्यत्वं तेनापि नोपगतमिति व्यङ्ग्यत्वमेव। प्रतिपत्तुरपि रसावेशो न नियतः, न ह्यसौ नियमेन भीरुधार्मिकसब्रह्मचारी सहृदयः।

रश्मि

वे भी अविद्या क्षेत्र में (लोक व्यवहार मार्ग में) इन्हीं सब (पूर्वोक्त) प्रक्रियाओं का अनुसरण करते हैं। उस अविद्या को पार कर लेने पर तो सब कुछ एक परमेश्वर ब्रह्म ही है—यह तो "तत्त्वालोक" ऐसे ग्रन्थ का निर्माण करने वाले हमारे शास्त्रकार (आनन्दवर्धनाचार्य) भी जानते हैं, अतः अब यह कहानी रहने दी जाय।

भट्टनायक कहते हैं कि "भ्रम धार्मिक" इत्यादि श्लोक में दृप्त, सिंह आदि (विभाववाची) पदों का प्रयोग होने से, तथा धार्मिक आदि (आश्रयवाची) पदों का प्रयोग होने से जो भयानक रस का उद्रेक होता है उसी से निषेध का बोध होता है। क्योंकि जब तक उस (धार्मिक) के भीरु तथा (सिंह के) वीर स्वभाव का निश्चित रूप से ज्ञान न हो जाय तब तक यहाँ निश्चित रूप से निषेध ही अर्थ है इसकी अवगति नहीं हो सकती, अतः निषेधावगति में केवल (वाच्यादि) अर्थ-सामर्थ्य ही निमित्त नहीं है (रसावेश भी है।)" इस पर कहते हैं—यह किसने कहा कि 'वक्ता और प्रतिपत्ता के वैशिष्ट्य के ज्ञान के बिना, और शब्दगत ध्वनन व्यापार के बिना ही निषेध अर्थ का बोध हो जाता है?' प्रतिपत्ता की प्रतिभा की सहकारिता को तो हम व्यञ्जना में प्राणरूप मानते हैं। भयानक रस के (बोद्धव्य-धार्मिक में) आवेश का निषेध नहीं किया जा रहा है, हाँ, किन्तु धार्मिक में वह भय-मात्र की उत्पत्ति रूप से स्वीकार किया जाता है (उससे निषेध का बोध नहीं होता), और प्रतिपत्ता को रसावेश (रसास्वाद) रस की अभिव्यक्ति द्वारा होता है (उत्पत्ति द्वारा नहीं)। और रस तो केवल व्यङ्ग्य-मात्र होता है, उसकी शब्दवाच्यता तो भट्टनायक को भी स्वीकृत नहीं। और प्रतिपत्ता (सहृदय) में भयानक रस का आवेश होना निश्चित भी नहीं है क्योंकि वह सहृदय

---

nized by all philosophers to convey any complete idea."—Theory of Rasa and Dhwani—P. 64

लोचन

अथ तद्विशेषोऽपि सहकारी कल्प्यते, तर्हि वक्तृप्रतिपत्तृप्रतिभाप्राणितो ध्वननव्यापारः किं न सह्यते। किं च वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुष्ठुतरां ध्वनिध्वंसोऽयम्। यदाह—'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः' इति। अथ रसस्यैवेयता प्राधान्यमुक्तम्; तत्को न सहते। अथ वस्तुमात्रध्वनेरेतदुदाहरणं न युक्तमित्युच्यते, तथापि काव्योदाहरणत्वाद्द्वावप्यत्र ध्वनी स्तः, को दोषः।

यदि तु रसानुवेधेन विना न तुष्यति, तत् भयानकरसानुवेधो नात्र सहृदयहृदयदर्पणमध्यास्ते; अपि तु उक्तनीत्या सम्भोगाभिलाषविभावसङ्केतस्थानोचितविशिष्टका-

रश्मि

निश्चित रूप से उस भीरु धार्मिक के सदृश स्वभाववाला नहीं है। और यदि प्रतिपत्ताविशेष (भीरु स्वभाव वाले) को भी आप भयानक रस की अभिव्यक्ति के लिए सहकारी रूप से कल्पित करते हैं, तो फिर वक्ता (विशेष) और प्रतिपत्ता (विशेष) की प्रतिभा से अनुप्राणित ध्वनन-व्यापार (की सत्ता) को ही क्यों नहीं सह लेते ? इसके अतिरिक्त, आप वस्तुध्वनि को दूषित करते हुए स्वयं रस-ध्वनि का उस (वस्तु ध्वनि) के सहायक (अनुग्राहक) रूप में समर्थन कर रहे हैं—यह तो आपने ध्वनि का अच्छा ध्वंस किया। जैसा कहते हैं कि "देव का क्रोध भी वर के तुल्य है।"*

यदि इससे आप रस का ही प्राधान्य कहते हैं (और वस्तुध्वनि को दूषित नहीं करते) तो वह किसे मान्य नहीं ? और यदि आप यह आक्षेप करें कि यह केवल वस्तुध्वनि का उदाहरण ठीक नहीं है, तब भी काव्य का उदाहरण होने के नाते (क्योंकि शास्त्र-वाक्य तो किसी एक ही विषय का प्रतिपादन करता है, किन्तु काव्यवाक्य अकेला ही गुण, अलङ्कार, रीति, रस, भाव, वस्तु आदि अनेक विषयों का उदाहरण बनता है) दोनों ध्वनियाँ हो जायँ, क्या दोष है ?

और यदि आप यहाँ रस का आवेश किए बिना सन्तुष्ट नहीं होते, तो इस उदाहरण में भयानक रस का आवेश तो सहृदयों के हृदयदर्पण में नहीं प्रकट होता है (आपके 'हृदय-दर्पण' में भले वह दिखलाई पड़ जाय)। अपितु पूर्वोक्त विधि से (जैसा कि कस्याश्चित् सङ्केतस्थानं जीवितसर्वस्वायमानम् इत्यादि रूप से कहा है अभिधादि पारकर ध्वनन व्यापार के प्रदर्शन रूप से) सम्भोग की अभिलाषा (अर्थात् रतिरूप स्थायी भाव) का जो (उद्दीपन) विभाव रूप सङ्केत स्थान के प्रति जो उचित विशिष्ट

*पूरा श्लोक पाण्डव गीता में इस प्रकार है :—

ये ये हताश्चक्रधरेण दैत्यास्त्रैलोक्यनाथेन जनार्दनेन।
ते ते गता विष्णुपुरीं नरेन्द्र क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः॥

लोचन

क्वाद्यनुभावशबलनोदितशृङ्गाररसानुवेधः । रसस्यालौकिकत्वात्तावन्मात्रादेव चानवगमात्प्रथमं निर्विवादसिद्धविविक्तविधिनिषेधप्रदर्शनाभिप्रायेण चैतद्वस्तुध्वनेरुदाहरणं दत्तम् ।

यस्तु ध्वनिव्याख्यानोद्यतस्तात्पर्यशक्तिमेव विवक्षासूचकत्वमेव वा ध्वननमवोचत् , स नास्माकं हृदयमावर्जयति । यदाहुः—'भिन्नरुचिर्हि लोकः' इति । तदेतदग्रे यथायथं प्रतनिष्याम इत्यास्तां तावत् ।

भ्रमेति । अतिसृष्टोऽसि प्राप्तस्ते भ्रमणकालः । धार्मिकेति । कुसुमाद्युपकरणार्थं युक्तं ते भ्रमणम् । विस्रब्ध इति शङ्काकारणवैकल्यात् । स इति यस्ते भयप्रकम्पामङ्गलतिकामकृत । अद्येति । दिष्टया वर्धस इत्यर्थः । मारित इति पुनरस्यानुत्थानम् । तेनेति । यः पूर्वं कर्णोपकर्णिकया त्वयाप्याकर्णितो गोदावरीकच्छगहने प्रतिवसतीति । पूर्वमेव हि तद्रक्षायै तत्तयोपश्रावितोऽसौ ; स चाधुना तु दृप्तत्वात्ततो गहनान्निस्सरतीति प्रसिद्धगोदा-

रश्मि

काकु आदि अनुभाव उन सबकी संवलना (सम्मिश्रण) से अभिव्यक्त शृङ्गार रस का ही आवेश होता है । रस के अलौकिक (केवल काव्य जगत् की वस्तु) होने के कारण तथा केवल उदाहरण मात्र से उसका बोध न होने के कारण पहले निर्विवादसिद्ध, स्पष्ट विधि-निषेध के भेद के प्रदर्शन के अभिप्राय से यह वस्तु-ध्वनि का उदाहरण दिया गया है ।

ध्वनि का व्याख्यान करने को उद्यत जिन भाट्टमतानुयायिओं ने तात्पर्यशक्ति और (जिन सुगतमतानुगामियों) ने विवक्षितार्थ-सूचकत्व को ही ध्वनन व्यापार बताया है—वह हमारा हृदय नहीं स्वीकार कर सकता । कहा भी है—'मनुष्य भिन्न-भिन्न रुचिवाले होते हैं ।' इसे हम आगे प्रसङ्गानुसार विस्तार से कहेंगे ।

'भ्रम' में लोट् का प्रयोग 'अतिसर्ग' और 'प्राप्तकाल' अर्थों में हुआ है । अर्थात् आपके घूमने की इच्छा का मैं अनुमोदन करती हूँ (अतिसर्ग); अथवा, आपके घूमने का समय हो गया है (प्राप्तकाल); 'धार्मिक' शब्द का प्रयोग इसलिए किया है कि पुष्पादि सामग्री के लिए तुम्हारा भ्रमण करना उपयुक्त है । 'विस्रब्धः' अर्थात् शङ्का के कारण के नाश हो जाने से निश्चिन्त । 'सः' का अर्थ है वह कुत्ता जो तुम्हारी लतासदृश देह को भय से प्रकम्पित कर देता था । 'अद्य' अर्थात् अब भाग्य अनुकूल है । 'मारितः' से द्योतित होता है कि अब उस कुत्ते का पुनः उठना न होगा । 'तेन' से ध्वनित होता है कि पहले आपने भी कानोंकान सुना होगा कि गोदावरी के कछार में वह (सिंह) रहता है । अर्थात् सङ्केत स्थान की रक्षा के लिए उस स्त्री ने धार्मिक को पहले ही सिंह के विषय में सुनवा दिया था । और वही सिंह अब दृप्त (खूँख्वार) होने के कारण लताओं की झुरमुट (गहन) से निकल आता है अतः प्रसिद्ध गोदावरी के

क्वचिद्वाच्ये प्रतिषेधरूपे विधिरूपो यथा—
अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि ।
मा पहिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ॥

लोचन

वरीतीरपरिसरानुसरणमपि तावत्कथाशेषीभूतं का कथा तल्लतागहनप्रवेशशङ्कयेति भावः ।

अत्ता इति ।

श्वश्रूरत्र शेते अथवा निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय ।
मा पथिक राज्यन्ध शय्यायामावयोः शयिष्ठाः ॥

मह इति निपातोऽनेकार्थवृत्तिरत्रावयोरित्यर्थे न तु ममेति । एवं हि विशेषवचनमेव शङ्काकारि भवेदिति प्रच्छन्नाभ्युपगमो न स्यात् । कांचित्प्रोषितपतिकां तरुणीमवलोक्य प्रवृद्धमदनाङ्कुरः संपन्नः पान्थोऽनेन निषेधद्वारेण तयाभ्युपगत इति निषेधाभावोऽत्र विधिः । न तु निमन्त्रणरूपोऽप्रवृत्तप्रवर्तनास्वभावः सौभाग्याभिमानखण्डनाप्रसङ्गात् । अत एव राज्यन्धेति समुचितसमयसंभाव्यमानविकाराकुलितत्वं ध्वनितम् । भावतदभावयोश्च साक्षाद्विरोधाद्वाच्याद्व्यङ्ग्यस्य स्फुटमेवान्यत्वम् ।

रश्मि

तीर के आसपास भूभाग की ओर जाना भी तो कहानी बन गया, उसके लताकुञ्ज में प्रवेश करने की तो बात ही क्या ?

'मह' यह निपात अव्यय बहुवचनान्त है—यहाँ 'आवयोः' अर्थ में है, 'मम' में नहीं। 'मम' कहने पर (अपनी शय्या का विशिष्ट उल्लेख) सास के मन में शङ्काकारक हो जाता और प्रच्छन्न स्वीकृति भी न रहती। किसी प्रोषितपतिका तरुणी को देखकर प्रवृद्ध-मदनाङ्कुर पथिक, 'मा शयिष्ठा' इस निषेध के द्वारा उस तरुणी द्वारा स्वीकृत किया गया है, अतः निषेधाभाव ही यहाँ विधि है। अप्रवृत्त को प्रवृत्त करने वाली निमन्त्रण रूप विधि यहाँ नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर उस तरुणी के सौभाग्य-अभिमान के खण्डन का प्रसङ्ग आ जाएगा। चूँकि विधि केवल निषेधाभाव-रूप है (नियोग, निमन्त्रण रूप नहीं) अतएव 'राज्यन्ध' से समुचित समय में सम्भावित विकारों से आकुलता ध्वनित होती है। (नियोग अर्थ रहने पर राज्यन्ध का वाच्यार्थ ही पर्याप्त होता) विधि और निषेध में साक्षात् विरोध होने के कारण वाच्य और व्यङ्ग्य की भिन्नता स्पष्ट ही है।

लोचन

यत्त्वाह भट्टनायकः—'अहमित्यभिनयविशेषेणात्मदशावेदनाच्छाब्दमेतदपी'ति । तत्राहमिति शब्दस्य तावन्नायं साक्षादर्थः ; काक्वादिसहायस्य च तावति ध्वननमेव व्यापार इति ध्वनेर्भूषणमेतत् । अत्तेति प्रयत्नेनानिभृतसंभोगपरिहारः । अथ यद्यपि भवान्मदनशरासारदीर्यमाणहृदय उपेक्षितुं न युक्तः, तथापि किं करोमि पापो दिवसकोऽयमनुचितत्वात्कुत्सितोऽयमित्यर्थः । प्राकृते पुंनपुंसकयोरनियमः । न च सर्वथा त्वामुपेक्षे, यतोऽत्रैवाहं तत्प्रलोकय नान्यतोऽहं गच्छामि, तदन्योन्यवदनावलोकनविनोदेन दिनं तावदतिवाहयाव इत्यर्थः । प्रतिपन्नमात्रायां च रात्रावन्धीभूतो मदीयायां शय्यायां मा शिलषः, अपि तु निभृतनिभृतमेवात्ताभिधाननिकटकण्टकनिद्रान्वेषणपूर्वकमितीयदत्र ध्वन्यते ।

रश्मि

भट्टनायक कहते हैं कि "अहम् इत्यादि कहने में अभिनय-विशेष के द्वारा अपनी अवस्था के आवेदन करने के कारण यह सम्पूर्ण अर्थ अभिधेय (शाब्द) ही है।" परन्तु 'अहम्' शब्द का यह अभिधेयार्थ तो नहीं है (कि 'यहाँ लेटिएगा' इत्यादि ।) काकु तथा अभिनय आदि की सहायता से उतने (अहम् आदि पदों का ' यहाँ लेटना आदि, तक अर्थ मानने) में ध्वनन व्यापार ही प्रकट होता है, और (तब यह भट्टनायक का 'अहमित्यभिनयविशेषेण' इत्यादि कहना) ध्वनि का भूषण ही हुआ दूषण नहीं, क्योंकि काकु तो ध्वनि की ही सहायक होती है। ' अत्ता ' कहने का तात्पर्य है कि बड़े प्रयत्न से अनिभृत (खुलकर) संभोग को रोकना पड़ेगा। (अब 'दिवसक' में 'कुत्सित' अर्थ में किए गए ' क ' प्रत्यय की ध्वनि बता रहे हैं।) यद्यपि काम की शरवर्षा से विदीर्ण-हृदय वाले आपकी उपेक्षा करना उचित नहीं है, तथापि क्या करूँ ? यह पापी दिवस है, इसमें मिलना अनुचित होगा, अतएव यह दिवस कुत्सित है। प्राकृत में पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में भेद नहीं होता। (अतः 'दिवसकं' इसमें नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग किया गया है)। (अब 'अहम्' और 'प्रलोकय' पदों की ध्वनि बताते हैं) और मैं सर्वथा तुम्हारी उपेक्षा भी नहीं कर रही हूँ, क्योंकि मैं यहीं हूँ, मुझे देख लो, मैं दूसरी जगह नहीं जा रही हूँ। अतः परस्पर मुखावलोकनरूप विनोद से हम दिन बिता दें। रात्रि प्रारम्भ होते ही अन्धे की भाँति कहीं मेरी शय्या से न लिपट जाना, अपितु चुपचाप इस अत्ता नामक समीप के कण्टक की निद्रा को परखते हुए—यहाँ इतना सब ध्वनित हो रहा है।

क्वचिद्वाच्ये विधिरूपेऽनुभयरूपो यथा—

वच्च मह व्विअ एक्केइ होन्तु णीसासरोइअव्वाइं ।
मा तुज्ज वि तीअ विणा दक्खिण्णहअस्स जाअन्तु ॥

लोचन

व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि ।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत ॥

अत्र व्रजेति विधिः । न प्रमादादेव नायिकान्तरसंगमनं तव, अपि तु गाढानुरागात्, येनान्याहङ्मुखरागः गोत्रस्खलनादि च, केवलं पूर्वकृतानुपालनात्मना दाक्षिण्येनैकरूपत्वाभिमानेनैव त्वमत्र स्थितः, तत्सर्वथा शठोऽसीति गाढमन्युरूपोऽयं खण्डितनायिकाभिप्रायोऽत्र प्रतीयते । न चासौ व्रज्याभावरूपो निषेधः, नापि विध्यन्तरमेवान्यनिषेधाभावः ।

रश्मि

यहाँ वाच्यार्थ 'जाओ' यह विधिरूप है । (अब ध्वनि अर्थ कहते हैं) 'प्रमाद के कारण दूसरी नायिका से तुम्हारा यह संगमन नहीं हुआ है, वरन् (उस दूसरी के प्रति) गाढानुराग से हुआ है । तभी तो अन्य प्रकार का तुम्हारे मुख का राग हो गया है और यह गोत्र (नाम) स्खलन आदि हो रहा है । केवल 'पूर्व-कृत का अनुपालन करना चाहिए इस रूप के' दाक्षिण्य (परचित्तानुवर्तन) से, उसकी एकरूपता का झूठा दिखावा करते हुए तुम यहाँ खड़े हो । अतः तुम पूर्णतया शठ हो ।'*[1]

इस प्रकार खण्डिता[2] नायिका का गाढ क्षोभ रूप अभिप्राय यहाँ व्यञ्जित हो रहा है । यहाँ 'व्रज' (जाओ) की निषेध ('न जाओ') रूप वह (व्यञ्जना) नहीं है, और न व्रज की अपेक्षा किसी अन्य की निषेधाभाव-रूप कोई अन्य विधि ही है (अपितु गाढमन्युरूप खण्डिता का अभिप्राय व्यङ्ग्य है जो न किसी क्रिया का विधिरूप है न निषेध-रूप ।)

---

१ *शठनायक का यह लक्षण है :—'शठोऽयमेकत्रबद्धभावो यः । दर्शितबहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढमाचरति ।'—सा० द० ३ । ७६

२ *खण्डिता का लक्षण इस प्रकार है :—

"पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसम्भोगचिह्नितः ।
सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता ॥"

—सा० द० ३। ११७

क्वचिद्वाच्ये प्रतिषेधरूपेऽनुभयरूपो यथा—

दे आ पसिअ णिवत्तसु मुहससिजोह्णाविलुत्ततमणिवहे ।
अहिसारिआणँ विग्घं करोसि अण्णाणं वि हआसे ॥

लोचन

दे इति निपातः प्रार्थनायाम् । आ इति तावच्छब्दार्थे । तेनायमर्थः—

'प्रार्थये तावत्प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे ।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे ॥'

अत्र व्यवसितादगमनान्निवर्तस्वेति प्रतीतेर्निषेधो वाच्यः । गृहागता नायिका गोत्रस्खलिताद्यपराधिनि नायके सति ततः प्रतिगन्तुं प्रवृत्ता, नायकेन चाटूपक्रमपूर्वकं निवर्त्यते । न केवलं स्वात्मनो मम च निर्वृतिविघ्नं करोषि, यावदन्यासामपि; ततस्तव न कदाचन सुखलवलाभोऽपि भविष्यतीत्यत एव हताशासीति वल्लभाभिप्रायरूपश्चाटुविशेषो व्यङ्ग्यः ।

यदि वा सख्योपदिश्यमानापि तदवधीरणया गच्छन्ती सख्योच्यते—न केवल—

रश्मि

'दे' निपात (अव्यय) है और प्रार्थना अर्थ में इसका प्रयोग होता है। 'आ' का अर्थ है 'तावत्' । अतः इसका इस प्रकार (संस्कृत में) अर्थ होगा—

प्रार्थये तावत्प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे ।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे ॥

यहाँ (निवर्तस्व पद से) "प्रारम्भ किये हुए गमन से लौटो" ("न जाओ")—इस प्रकार की प्रतीति (अर्थबोध) हो रही है अतः निषेध वाच्य है। नायक के घर आई हुई नायिका, नायक के अन्य नायिका के नाम आदि ले लेने रूप (गोत्रस्खलनादि) अपराध के कारण उसके घर से वापस जाने लगती है, उस समय चाटुकारिता के साथ नायक उसे लौटा रहा है। (चाटुकारिता रूप व्यङ्ग्य कुछ इस प्रकार का है—) "न केवल अपने और हमारे सुख में विघ्न डाल रही हो अपितु अन्य अभिसारिकाओं के कार्य में भी विघ्न बन रही हो। तो (सबके सुख में विघ्न करने के कारण) फिर तुम्हें लेशमात्र भी सुख कैसे मिलेगा, अतएव (सुखलव के भी लाभ न होने से) तुम हताशा हो। इस प्रकार का वल्लभ का अभिप्राय-रूप चाटु-विशेष व्यङ्ग्य है।"

अथवा, (दूसरी व्याख्या के अनुसार), सखी के समझाने पर भी उसकी बात न मान कर अभिसारोद्यत नायिका के प्रति सखी की उक्ति है—"(स्वयं जाने से अपना) लाघव प्रदर्शित कर अपने को अनादरास्पद करके हे हताशे, तुम न केवल

लोचन

मात्मनो विघ्नं करोषि, लाघवादबहुमानास्पदमात्मानं कुर्वती, अत एव हताशा, यावद्वदनचन्द्रिकाप्रकाशितमार्गतयान्यासामप्यभिसारिकाणां विघ्नं करोषीति सख्यभिप्राय-रूपश्चाटुविशेषो व्यङ्ग्यः । अत्र तु व्याख्यानद्वयेऽपि व्यवसितात्प्रतीपगमनात्प्रियतम-गृहगमनाच्च निवर्तस्वेति पुनरपि वाच्य एव विश्रान्तेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदस्य प्रेयोरस-वदलङ्कारस्योदाहरणमिदं स्यात्, न ध्वनेः ।

तेनायमत्र भावः—काचिद्रभसात्प्रियतममभिसरन्ती तद्‌गृहाभिमुखमागच्छता तेनैव हृदयवल्लभेनैवमुपश्लोक्यतेऽप्रत्यभिज्ञानच्छलेन, अत एवात्मप्रत्यभिज्ञापनार्थमेव नर्मवचनं हताश इति । अन्यासाञ्च विघ्नं करोषि तव चेप्सितलाभो भविष्यतीति का प्रत्याशा। अत एव मदीयं वा गृहमागच्छ, त्वदीयं वा गच्छावेत्युभयत्रापि तात्पर्यादनुभयरूपो वल्लभाभिप्रायश्चाटूवात्मा व्यङ्ग्य इत्यत्येव व्यवतिष्ठते । अन्ये तु—'तटस्थानां सहृदया-

रश्मि

अपनी मनोरथसिद्धि में विघ्न कर रही हो, अपितु अपने मुखचन्द्र की ज्योत्स्ना से मार्ग के अन्धकार का नाश करके अन्य अभिसारिकाओं के कार्य में भी विघ्न डाल रही हो।" इस प्रकार सखी का अभिप्रायरूप चाटुविशेष व्यङ्ग्य है।

इन उपर्युक्त, अर्थात् व्यवसित गमन से तथा प्रियतम के घर जाने से लौटो—इन दोनों ही व्याख्याओं में, नायक और सखी के चाटुरूप व्यङ्ग्य, 'निवर्तस्व' इस वाच्यार्थ में ही विश्राम लेते हैं अर्थात् वाच्यार्थ के प्रति अङ्गरूप हो जाते हैं, अतः ये गुणीभूत-व्यङ्ग्य के भेद रसवद् के (नायक की उक्ति में) और प्रेय के (सखी की उक्ति में) (अलङ्कारों के) उदाहरण हो जाएँगे, ध्वनि के नहीं।

अतएव इसका यहाँ यह अर्थ है "शीघ्रता से नायक के घर अभिसार करती हुई कोई नायिका, अपने उसी प्रियतम द्वारा, न पहचानने के बहाने (नायिका नायक को नहीं पहिचान रही है यह सोचकर) प्रशंसित की जा रही है, अतएव अपने को पहचनवाने के लिए ही नायक ने 'हताशे' यह नर्मवचन कहा है (क्योंकि 'हताशा' कोई आत्मीय ही कह सकता है) । अन्य अभिसारिकाओं का भी विघ्न करोगी, और फिर तुम्हारा इष्टलाभ हो जाएगा—इसी की क्या आशा ? अतएव "चाहे तुम मेरे घर चलो, या हम दोनों तुम्हारे घर चलें"—इस प्रकार के दोनों रूप के तात्पर्य न होने से नायक का केवल चाटुकारितापूर्ण अभिप्राय (आत्मप्रत्यभिज्ञापनरूपनर्मवचनरूप) व्यङ्ग्य है (जो अनुभयरूप है—न विधिरूप और न निषेधरूप) ।"

क्वचिद्वाच्याद्विभिन्नविषयत्वेन व्यवस्थापितो यथा—
कस्स व ण होइ रोसो दट्ठूण पिआएँ सव्वणं अहरम् ।
सभमरपउमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एह्णिम् ॥

लोचन

-नामभिसारिकां प्रतीयमुक्तिः' इत्याहुः । तत्र हताशे इत्यामन्त्रणादि युक्तमयुक्तं वेति सहृदया एव प्रमाणम् ।

एवं वाच्यव्यङ्ग्ययोर्धार्मिकपान्थप्रियतमाभिसारिकाविषयैक्येऽपि स्वरूपभेदाद्भेद इति प्रतिपादितम् । अधुना तु विषयभेदादपि व्यङ्ग्यस्य वाच्याद्भेद इत्याह—क्वचिद्वाच्यादिति । व्यवस्थापित इति । विषयभेदोऽपि विचित्ररूपो व्यवतिष्ठमानः सहृदयैर्व्यवस्थापयितुं शक्यत इत्यर्थः ।

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम् ।
सभ्रमरपद्माघ्राणशीले वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥

कस्य वेति । अनीर्ष्यालोरपि भवति रोषो दृष्ट्वैव; अकृत्वापि कुतश्चिदेवापूर्वतया प्रियायाः सव्रणमधरमवलोक्य । सभ्रमरपद्माघ्राणशीले शीलं हि कथंचिदपि वारयितुं न शक्यम् । वारिते वारणायां, वामे तदनङ्गीकारिणि । सहस्वेदानीमुपालम्भपरम्परामित्यर्थः ।

रश्मि

कुछ लोग कहते हैं कि अभिसारिका के प्रति तटस्थ सहृदयों की ही यह उक्ति है । इस विषय में सहृदय स्वयं प्रमाण हैं कि तटस्थ सहृदयों का किसी अन्य महिला को 'हताशे' सम्बोधन करना उचित है अथवा अनुचित ।

ऊपर के चारों उदाहरणों में क्रम से धार्मिक, पान्थ, प्रियतम और अभिसारिका ही वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों के विषय हैं । इस प्रकार विषय का ऐक्य होने पर भी वाच्य और व्यङ्ग्य का स्वरूपभेद से भेद दिखाया है । अब यह दिखाते हैं कि विषय अर्थात् प्रतिपत्ता के भेद से भी वाच्य और व्यङ्ग्य में भेद होता है । 'व्यवस्थापित' का अर्थ है कि प्रतिपत्तृ-भेद भी अनेक रूपों में सहृदयों द्वारा स्थित किया जा सकता है ।

'प्रिया के सव्रण अधर को देखकर किसको क्रोध नहीं आता ? मना करने पर भी न मानने वाली, भ्रमरसहित कमल को सूँघने वाली तू अब उसका फल भोग ।'

'कस्य' का अर्थ है कि कभी ईर्ष्या न करने वाले को भी (सव्रण अधर) देखते ही रोष होता है । अर्थात् स्वयं तो उसने किया नहीं अतः किसी भी कारण से हुए प्रिया के प्रागदृष्ट सव्रण अधर को देखकर (उसे रोष होता है) । 'सभ्रमरपद्माघ्राणशीले' में शील का अर्थ है स्वभाव, जो कभी दूर नहीं किया जा सकता । 'वारितवामे' का अर्थ है—हे निषेध को अस्वीकृत करने वाली । सहस्वेदानीम् अर्थात्

लोचन

अत्रायं भावः—काचिदविनीता कुतश्चित्खण्डिताधरा निश्चिततत्सविधसंनिधाने तद्भर्तरि तमनवलोकमानयेव कयाचिद्विदग्धसख्या तद्वाच्यतापरिहारायैवमुच्यते। सहस्वेदानीमिति वाच्यमविनयवतीविषयम्। भर्तृविषयं तु—अपराधो नास्तीत्यावेद्यमानं व्यङ्ग्यम्। सहस्वेत्यपि च तद्विषयं व्यङ्ग्यम्। तस्यां च प्रियतमेन गाढमुपालभ्यमानायां तद्व्यलीक-शङ्कितप्रातिवेशिकलोकविषयं चाविनयप्रच्छादनेन प्रत्यायनं व्यङ्ग्यम्। तत्सपत्न्यां च तदुपालम्भतदविनयप्रहृष्टायां सौभाग्यातिशयख्यापनं प्रियाया इति शब्दबलादिति सपत्नीविषयं व्यङ्ग्यम्। सपत्नीमध्ये इयता खलीकृतास्मीति लाघवमात्मनि ग्रहीतुं न युक्तं; प्रत्युतायं बहुमानः, सहस्व शोभस्वेदानीमिति सखीविषयं सौभाग्यप्रख्यापनं व्यङ्ग्यम्। अद्येयं तव प्रच्छन्नानुरागिणी हृदयवल्लभेत्थं रक्षिता, पुनः प्रकटरदनदंशनविधिर्न विधेय इति

रश्मि

अब उलाहने सुनो। यहाँ यह भाव है—किसी अन्य के द्वारा खण्डित अधर वाली अविनीता (कुलटा) से, उसके पति को निश्चित रूप से समीपस्थ जानकर, मानों उसको न देखती हुई कोई विदग्ध (चतुर) सखी, नायिका के लाञ्छन के परिहार के लिए इस प्रकार कह रही है। 'सहस्वेदानीम्'--इसका वाच्यार्थ तो अविनीता के प्रति है। उसके पति के प्रति यह आवेदन रूप व्यङ्ग्य है कि 'इसका अपराध नहीं है।' 'सहो'—यह कहने में भी पतिविषयक व्यङ्ग्य है। ('सहस्व' का साक्षात् प्रयोग तो नायिका के लिए सम्बोधन करके किया गया है अतः नायिका ही इसके वाच्यार्थ का विषय बनेगी। सुनने वाला नायक भी इसका यह अर्थ लगाएगा कि 'अतः मुझे इसका अधरव्रण सह लेना चाहिए' जो साक्षात् अर्थ न होने के कारण व्यङ्ग्य ही है।) प्रियतम द्वारा अत्यधिक उपालम्भ दी जाती हुई उस नायिका के, अपने पति का प्रतिकूल (बुरा आचरण) किया—ऐसी शङ्का करने वाले पड़ोसियों के मन में, नायिका के अविनय (दुराचार) के प्रच्छादन द्वारा, (उसकी सरलता या सच्चरित्रता के प्रति) विश्वास उत्पन्न कराना व्यङ्ग्य है। सपत्नीविषयक व्यङ्ग्य है—नायक द्वारा दिए गए उपालम्भों से प्रसन्न हुई सपत्नियों में, 'प्रिया' शब्द के बल से, नायिका के अत्यधिक सौभाग्य का प्रकाशन। (अर्थात् जो 'प्रिया' है उसी के प्रति प्रियतम को इतनी खोज बीन रहती है, अन्य के प्रति कभी नहीं।) स्वयं नायिका के प्रति भी इस प्रकार का सौभाग्य ख्यापन रूप व्यङ्ग्य है—'सपत्नियों के बीच मुझे अपमानित किया'—इस प्रकार अपनी लघुता न समझना, अपितु यह तो बहुत बड़ा मान है, अब तुम सहो अर्थात् डाँट सहने में भी तुम्हारी शोभा है। प्रच्छन्न कामुक के प्रति व्यङ्ग्य है कि, "आज तो मैंने तुम्हारी इस प्रच्छन्नानुरागिणी प्रियतमा को इस प्रकार बचा दिया है, अब पुनः

अन्ये चैवं प्रकाराः वाच्याद्विभेदिनः प्रतीयमानभेदाः सम्भवन्ति । तेषां दिङ्मात्रमेतत्प्रदर्शितम् । द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्विभिन्नः सप्रपञ्चमग्रे दर्शयिष्यते । तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते,

लोचन

तच्चौर्यकामुकविषयसम्बोधनं व्यङ्ग्यम् । इत्थं मयैतदपह्नुतमिति स्ववैदग्ध्यख्यापनं तटस्थविदग्धलोकविषयं व्यङ्ग्यमिति । तदेतदुक्तं व्यवस्थापितशब्देन ।

अग्र इति । द्वितीयोद्द्योते 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः क्रमेणोद्द्योतितः परः' इति विवक्षितान्यपरवाच्यस्य द्वितीयप्रभेदवर्णनावसरे । यथा हि विधिनिषेधतदनुभयात्मना रूपेण संकलय्य वस्तुध्वनिः संक्षेपेण सुवचः,तथा नालङ्कारध्वनिः,अलङ्काराणां भूयस्त्वात् । तत एवोक्तम्-सप्रपञ्चं इति । तृतीयस्त्विति । तुशब्दो व्यतिरेके । वस्त्वलङ्कारावपि शब्दाभिधेयत्वमध्यासाते तावत् । रसभावतदाभासतत्प्रशमाः पुनर्न कदाचिदभिधीयन्ते, अथ चास्वाद्यमानताप्राणतया भान्ति । तत्र ध्वननव्यापारादृते नास्ति कल्पनान्तरम् । स्खलद्गतित्वाभावे मुख्यार्थबाधादेर्लक्षणानिबन्धनस्यानाशङ्कनीयत्वात् । औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरा-

रश्मि

प्रकट रूप से अधर-दंशन न करना ।" तथा स्वयं सखी का "इस प्रकार मैंने इस भारी 'केस' को छिपा लिया"—यह अपनी विदग्धता का ख्यापन रूप व्यङ्ग्य तटस्थ सहृदयों के प्रति है । वृत्ति में व्यवस्थापित शब्द का यही तात्पर्य है कि सहृदय की उत्प्रेक्षा के द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ के विविध प्रतिपत्ता अवस्थित किए जा सकते हैं ।

वृत्ति में 'अग्रे' का तात्पर्य है कि द्वितीय उद्योत में असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम रूप विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के दूसरे प्रभेद के वर्णन के समय अलङ्कार ध्वनि कहेंगे । क्योंकि जिस प्रकार विधि, निषेध और अनुभय रूप वाली वस्तु ध्वनि संक्षेप में स्पष्टतया कही जा सकती है,उस प्रकार अलङ्कार-ध्वनि नहीं,क्योंकि अलङ्कार अनेकों हैं । इसलिए उस अलङ्कार ध्वनि को कहने के लिए क्रियाविशेषण 'सप्रपञ्च' कहा है । तृतीयस्तु में 'तु' शब्द व्यतिरेक (पृथग्रूपता के) अर्थ में प्रयुक्त है । वस्तु और अलङ्कार ध्वनियाँ कभी शब्दों का वाच्य अर्थ भी हो सकती हैं । परन्तु रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति आदि कभी भी अभिधा व्यापार के विषय नहीं हो सकते, उनका तो आस्वादन-मात्र प्राण होता है । रसादि की प्रतीति में ध्वनन व्यापार के अतिरिक्त अन्य व्यापार नहीं है । शब्द की स्खलद्गति के अभाव में (क्योंकि वाच्य रूप से वर्णित विभाव अनुभाव आदि सीधे रसास्वाद कराते हैं अतः) मुख्यार्थबाधादिरूप लक्षणा के कारणों की शङ्का की ही नहीं जा सकती । स्थायी (भावरूप) चित्तवृत्ति जब उचित ढंग से प्रवृत्त होकर आस्वाद्य बनती है, तब उसको 'रस' कहते हैं— और व्यभिचारी (भाव-रूप)

लोचन

स्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसो, व्यभिचारिण्या भावः,अनौचित्येन तदाभासः,रावणस्येव सीतायां रतेः। यद्यपि तत्र हास्यरसरूपतैव,'शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यः'इति वचनात्। तथापि पाश्चात्येयं सामाजिकानां स्थितिः, तन्मयीभवनदशायां तु रतेरेवास्वाद्यतेति शृङ्गारतैव भाति पौर्वापर्यविवेकावधीरणेन 'दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम्' इत्यादौ। तदसौ शृङ्गाराभास एव। तदङ्गं भावाभासश्चित्तवृत्तेः प्रशम एव प्रक्रान्ताया हृदयमाह्लादयति यतो विशेषेण, तत एव तत्संगृहीतोऽपि पृथग्गणितोऽसौ। यथा—

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो—
रन्योन्यस्य हृदि स्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम्।
दंपत्योः शनकैरपाङ्गवलनामिश्रीभवच्चक्षुषो—
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यावृत्तकण्ठग्रहम्॥

इत्यत्रेर्ष्यारोषात्मनो मानस्य प्रशमः। न चायं रसादिरर्थः 'पुत्रस्ते जातः'

रश्मि

चित्तवृत्ति जब उचित ढंग से आस्वाद्य बनती है तब उसे 'भाव' कहते हैं। अनौचित्य से प्रवृत्त होकर आस्वाद्य बनने पर (स्थायी का) रसाभास होता है, जैसे रावण की रति सीता में। "शृङ्गार से हास्य होता है"—भरत के इस कथन के अनुसार यद्यपि शृङ्गार के अनौचित्य में हास्य रस की ही रूपता है, तथापि यह (रति के) अनौचित्य के कारण हास्यता की (अनुभूति की) स्थिति सामाजिकों को बाद में होती है, "दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम्" इत्यादि काव्य पढ़ते ही तन्मय होने की अवस्था में तो (विभाव तथा रति के) पौर्वापर्यविवेक की अवधीरणा होने से, रति की ही आस्वाद्यता होने के कारण शृङ्गारता ही शोभित होती है। अतः यह शृङ्गाराभास ही होगा। रसाभास का अङ्गभूत भाव भावाभास है। कभी उद्दीप्त चित्तवृत्ति का प्रशम भी हृदय को आह्लादित करता है—अतः भाव शब्द से इसका ग्रहण हो जाता तो भी भावप्रशम की पृथक् गणना की गई है। इसका उदाहरण है—"एक ही शय्या पर विमुख लेटे हुए, संतप्त, तथा गौरव के भङ्ग होने के भय से हृदय में स्थित होते हुए भी अनुनय को न करते हुए दम्पति के नेत्र, धीरे से अपाङ्गों के घूमने के कारण, जब परस्पर मिल गए, तो प्रणयकलह टूट गया और हँसकर वेग से दोनों गले से लिपट गए।"

यहाँ पर ईर्ष्या और रोष स्वरूप मान का प्रशम प्रतीत हो रहा है। जिस प्रकार 'पुत्रस्ते जातः' इत्यादि वाक्य सुनकर हर्ष उत्पन्न होता है, उस प्रकार इस रसादि रूप

स्वशब्दनिवेदितत्वम्। यत्राप्यस्ति तत्, तत्रापि विशिष्टविभावादिप्रतिपादनमुखेनैवैषां प्रतीतिः। स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते, न तु तत्कृता। विषयान्तरे

लोचन

दर्शयति—न च सर्वत्रेति। यथा भट्टेन्दुराजस्य—

यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निःस्थेमनी लोचने
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत्।
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निबिडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः॥

इत्यत्रानुभावविभावावबोधनोत्तरमेव तन्मयीभवनयुक्त्या तद्विभावानुभावोचितचित्तवृत्तिवासनानुरञ्जितस्वसंविदानन्दचर्वणागोचरोऽर्थो रसात्मा स्फुरत्येवाभिलाषचिन्तौत्सुक्यनिद्राधृतिग्लान्यालस्यश्रमस्मृतिवितर्कादिशब्दाभावेऽपि। एवं व्यतिरेकाभावं प्रदर्श्यान्वयाभावं दर्शयति–यत्रापीति। तदिति स्वशब्दनिवेदितत्वम्। प्रतिपादन-

रश्मि

ध्वनन का ही अन्वय-व्यतिरेक है" यही सिद्धान्त वृत्ति में 'न च सर्वत्र' इत्यादि के द्वारा, दिखाते हैं। भट्टेन्दुराज का यह श्लोक उदाहरण-स्वरूप है:—

'कृष्ण के यौवन के प्रारम्भ होने पर युवती वनिताओं की ऐसी ही दशा हो गई है। वे चञ्चल नेत्रों से रुक रुक कर बार बार (कृष्ण को) देखती हैं। कमलिनी की तोड़ी नाल के समान उनके अङ्ग प्रतिदिन कृश हो रहे हैं। तथा दूब के डंठल का अनुकरण करने वाली उनकी कपोलों की पाण्डुता अत्यन्त घनी हो गई है।'

यहाँ अनुभाव (युवतियों की दशा) विभावों (कृष्ण और उनका यौवन) के अवबोध के अनन्तर ही तन्मय होने की युक्ति द्वारा, शृङ्गारादि रस के विभावानुभावों के उचित (अनुकूल) जो चित्तवृत्ति (अर्थात् रति) उसकी वासना (संस्कार) से अनुरञ्जित स्वसंवेदना (बुद्धि) उसकी आनन्दमयी चर्वणा (आस्वादन) का विषय—(विप्रलम्भशृङ्गार—) रस-स्वरूप जो अर्थ, वह अभिलाष, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, धृति, ग्लानि, आलस्य, श्रम, स्मृति, और वितर्क आदि शब्दों के न कहे जाने पर भी, स्फुरित हो ही जाता है। इस प्रकार (स्वशब्दनिवेदन और रस में) व्यतिरेकाभाव दिखाकर, अब अन्वयाभाव भी दिखाते हैं—यत्राप्यस्ति तत् इत्यादि कह कर। यहाँ 'तत्' का अर्थ है स्वशब्दनिवेदन। प्रतिपादनमुखेन कहने का तात्पर्य है कि शब्दों के द्वारा बोधित विभावादि की प्रतिपत्ति से। सा

लोचन

मुखेनेति। शब्दप्रयुक्तया विभावादिप्रतिपत्त्येत्यर्थः। सा केवलमिति। तथा हि—

याते द्वारवतीं तदा मधुरिपौ तद्दत्तझम्पानतां
कालिन्दीतटरूढवञ्जुललतामालिङ्ग्य सोत्कण्ठया।
तद्गीतं गुरुबाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं राधया
येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम्॥

इत्यत्र विभावानुभावावम्लानतया प्रतीयेते। उत्कण्ठा च चर्वणागोचरं प्रतिपद्यत एव। सोत्कण्ठाशब्दः केवलं सिद्धं साधयति, उत्कमित्यनेन तूक्तानुभावानुकर्षणं कर्तुं सोत्कण्ठाशब्दः प्रयुक्त इत्यनुवादोऽपि नानर्थकः, पुनरनुभावप्रतिपादने हि पुनरुक्तिरत-

रश्मि

केवलमिति—स्वशब्द से उस रसप्रतीति का केवल अनुवदन किया जाता है। उदाहरणार्थ—

'कृष्ण के मथुरा चले जाने पर, वे झोंका देकर जिसे झुकाते थे, यमुना के तट पर की उसी वञ्जुल-लता से उत्कण्ठापूर्वक लिपट कर राधा, अत्यन्त आँसू के कारण रुद्धकण्ठा होकर उच्च स्वर से वह गीत गाती थी, जिसे सुनकर भीतर के जलचर भी उत्कण्ठापूर्वक कूज पड़ते थे।'

यहाँ पर विभाव (वियुक्तकृष्ण, कालिन्दीतट, वञ्जुललता आदि) और अनुभाव (लतालिङ्गन, गीत आदि) स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं। और उत्कण्ठा भी आस्वाद्यमानता प्राप्त कर ही रही है। अतः (इस रूप में) 'सोत्कण्ठ' शब्द केवल सिद्ध का साधन कर रहा है। परन्तु (दूसरे रूप में) यह 'सोत्कण्ठ' शब्द निरर्थक भी नहीं प्रयुक्त हुआ है क्योंकि जलचर-पक्ष में प्रयुक्त इसके पर्याय 'उत्कम्' के द्वारा भी गुरुबाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं तद्गीतं इत्यादि उन सभी अनुभावों का अनुकर्षण हो रहा है जो 'सोत्कण्ठ' के साथ संलग्न हैं।—और यदि ये गुरुबाष्प इत्यादि अनुभाव पुनः कह दिए जाते तो एक तो पुनरुक्ति-दोष आ जाता, साथ ही अतन्मयता भी आ जाती।*

---

*जैसा कि बालप्रियाकार ने विशद किया है—

"जलचारिणां कूजितेऽपि गुरुबाष्पेत्याद्युक्तानुभावानां संयोजन एव तन्मयीभवनयुक्त्या तदुत्कण्ठायाश्चर्वणागोचरत्वं भवति। उत्कमित्यनेन च तदनुभावसाहित्यं प्रतिपिपादयिषितम्। न च केवलेनोत्कशब्देन तत्प्रतिपादनं भवति, तस्य तावत्यपर्याप्तत्वात्। सति च पूर्ववाक्ये सोत्कण्ठाशब्दे तत्संगृहीतानामनुभावानां सोत्कण्ठासमानार्थकोत्कशब्देन प्रतिपादनं भवतीति सोत्कण्ठाशब्दः सप्रयोजन इत्यर्थः।"

तथा तस्या अदर्शनात्। न हि केवलशृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रति-पादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति ।यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः। केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीतिः । तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्। न त्वभिधेयत्वं कथञ्चित्, इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्भिन्न एवेति

लोचन

न्मयीभावो वा। न तु तत्कृतेत्यत्र हेतुमाह— विषयान्तर इति। 'यद्विश्रम्य' इत्यादौ। न हि यदभावेऽपि यद्भवति तत्कृतं तदिति भावः। अदर्शनमेव द्रढयति—न हीति। केवलशब्दार्थं स्फुटयति—विभावादीति। काव्य इति। तव मते काव्यरूपतया प्रसज्य-मान इत्यर्थः। मनागपीति।

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥

इत्यत्र। एवं स्वशब्देन सह रसादेर्व्यतिरेकान्वयाभावमुपपत्या प्रदर्श्य तथैवोप-संहरति—यतश्चेत्यादिना कथञ्चिदित्यन्तेन। अभिधेयमेव सामर्थ्यं सहकारिशक्तिरूपं विभावादिकं रसध्वनने शब्दस्य कर्तव्ये, अभिधेयस्य च पुत्रजन्महर्षभिन्नयोगक्षेमतया जननव्यतिरिक्ते दिवाभोजनाभावविशिष्टपीनत्वानुमितरात्रिभोजनविलक्षणतया चानु-

रश्मि

'न तु तत्कृता' का हेतु कहते हैं—विषयान्तर इति। अर्थात् 'यद्विश्रम्य' इत्यादि श्लोक में शृङ्गार-रस की प्रतीति शृङ्गारशब्दकृत नहीं है। भाव यह है कि जिसके अभाव में भी जो हो, वह उसके द्वारा किया हुआ नहीं होता है। (रसप्रतीति का) अदर्शन ही दृढ़ करते हैं—न हीति। वृत्ति में 'केवलशृङ्गारादि' में 'केवल' शब्द को 'विभावादिप्रतिपादनरहिते' कह कर स्पष्ट किया है। 'काव्ये' का तात्पर्य है कि इस प्रकार के विभावादिप्रतिपादनरहित को भी जिसे आप काव्य की संज्ञा देते हैं। मनागपि—अर्थात् थोड़ी भी रस-प्रतीति नहीं है। (इस प्रकार के काव्य का उदाहरण देते हैं) जैसे 'नाटक में शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत—ये आठ रस होते हैं।' यहाँ। इस प्रकार स्ववाचकशब्द के साथ रसादि का व्यतिरेकाभाव और अन्वयाभाव दिखाकर वृत्तिकार, 'यतश्च' से 'कथञ्चिद्' पर्यन्त में उपसंहार करते हैं। शब्द के रसध्वनन कार्य में विभावादिक सहकारिशक्तिरूप अभिधेय ही सामर्थ्य है। और अभिधेय के ध्वनन कार्य में, जो पुत्रजन्म से उत्पन्न हर्ष से भिन्न स्वभाव वाला होने के कारण उत्पत्ति से व्यतिरिक्त है, तथा दिन के भोजन के अभाव में विशिष्ट पीनत्व से अनुमित रात्रिभोजन से विलक्षण होने के

 ए अनुमान से व्यतिरिक्त है, गुणालङ्कारादिविशिष्ट समुचित (रसोचित) वाचक

स्थितम् । वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिरित्यग्रे दर्शयिष्यते ।

लोचन

मानव्यतिरिक्ते ध्वनने कर्तव्ये सामर्थ्यं शक्तिः विशिष्टसमुचितवाचकसाकल्यमिति द्वयोरपि शब्दार्थयोर्ध्वननं व्यापारः। एवं द्वौ पक्षावुपक्रम्याद्यो दूषितः, द्वितीयस्तु कथञ्चिद्-दूषितः कथञ्चिदङ्गीकृतः, जननानुमानव्यापाराभिप्रायेण दूषितः; ध्वननाभिप्रायेणाङ्गी-कृतः।

यस्त्वत्रापि तात्पर्यशक्तिमेव ध्वननं मन्यते, स न वस्तुतत्त्ववेदी। विभावानुभाव-प्रतिपादके हि वाक्ये तात्पर्यशक्तिर्भेदे संसर्गे वा पर्यवस्येत्; न तु रस्यमानतासारे रसे इत्यलं बहुना। इतिशब्दो हेत्वर्थे। 'इत्यपि हेतोस्तृतीयोऽपि प्रकारो वाच्याद्भिन्न एवे'-ति सम्बन्धः। सहेवेति। इवशब्देन विद्यमानोऽपि क्रमो न संलक्ष्यत इति तद्दर्शयति— अग्र इति। द्वितीयोद्द्योते ॥४॥

रश्मि

(शब्द) से युक्त होना है। अतः शब्द और अर्थ दोनों ही ध्वनन कार्य करते हैं।*

इस प्रकार वृत्तिकार ने 'स्वशब्दनिवेदितत्त्वेन विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा'— इत्यादि कहकर दो पक्षों को उपस्थापित करके प्रथम पक्ष को दूषित कर दिया, और द्वितीय को कुछ दोषयुक्त बताया, और कुछ अङ्गीकृत कर लिया, अर्थात् रस के जनन और अनुमान व्यापार के अभिप्राय से दूषित किया है तथा ध्वनन अभिप्राय से अङ्गी-कृत कर लिया है।

(अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्त कह कर वृत्तिकार ने तात्पर्यशक्ति को ही ध्वनन माना है,इस प्रकार) जो अब भी तात्पर्य शक्ति को ही ध्वनन मानते हैं, वे वास्तविक तथ्य को नहीं समझते। क्योंकि विभावानुभावप्रतिपादक वाक्य में तात्पर्यशक्ति अपितु (कर्मान्तर या क्रियान्तर से) 'भेद' अथवा 'संसर्ग' में ही पर्यवसित हो जाती है चर्वणात्मक रस में नहीं। अब अधिक नहीं कहेंगे। वृत्ति में 'इति' शब्द हेतु अर्थ में आया है, अर्थात् 'इस कारण से भी तृतीय प्रकार वाच्य से भिन्न ही है।' 'सहेव' में 'इव' (उत्प्रेक्षा) का तात्पर्य है कि वाच्य और व्यङ्ग्य में यद्यपि भेद विद्यमान है, तथापि उनका क्रम ठीक नहीं लक्षित होता है—इसी को दिखाते हैं—अग्रे इति—अर्थात् द्वितीय उद्योत में ॥४॥

---

*यहाँ लोचनकार ने 'अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्' में 'अभिधेय-सामर्थ्य' पद के दो विग्रह किए हैं—(१) अभिधेयमेव सामर्थ्यम् तथा (२) अभिधेयस्य सामर्थ्यम्। पहले में शब्द के ध्वनन करने पर अर्थ की सहकारिता बताई है, दूसरे में अर्थ के ध्वनन करने पर शब्द की सहकारिता बताई है।

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ।।५।।

लोचन

एवं 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इतीयता ध्वनिस्वरूपं व्याख्यातम्। अधुना काव्यात्मत्वमितिहासव्याजेन च दर्शयति—काव्यस्यात्मेति। स एवेति प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रक्रान्ते तृतीय एव रसध्वनिरिति मन्तव्यं, इतिहासबलात् प्रक्रान्तवृत्तिग्रन्थार्थबलाच्च। तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण 'ध्वनिः काव्यस्यात्मे' ति सामान्येनोक्तम्। शोक इति। क्रौञ्चस्य द्वन्द्ववियोगेन सहचरीहननोद्भूतेन साहचर्यध्वंसनेनोत्थितो यः शोकः स्थायिभावो निरपेक्षभावत्वाद्विप्रलम्भश्रृङ्गारोचितरतिस्थायिभावादन्य एव, स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नो रसपरिपूर्णकुम्भोच्चलन-

रश्मि

इस प्रकार 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इत्यादि तक ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या की गयी। और अब इतिहास की घटना के बहाने से (घटना का उल्लेख करके) ध्वनि की काव्यात्मकता को दिखाते हैं। कारिका में 'स एव' के द्वारा यद्यपि सब प्रकारों वाला (वस्तु, अलङ्कार, रसादि रूप) प्रतीयमान अर्थ यहाँ प्रसङ्गतः गृहीत होता है, तथापि कारिका में उद्धृत इतिहास के (शोक श्लोक बना इत्यादि रूप) तात्पर्य से और इस कारिका की वृत्ति के तात्पर्य से तृतीय भेद अर्थात् रसध्वनि ही (काव्यात्मा) माननी चाहिए। अतः रस-ध्वनि ही वस्तुतः काव्य की आत्मा होती है, वस्तु और अलङ्कार ध्वनियों का पर्यवसान तो हर प्रकार से रस में ही होता है। परन्तु ये दोनों ध्वनियाँ भी वाच्यार्थ से तो उत्कृष्ट ही होती हैं, अतः सामान्य-रूप से (सभी ध्वनियों के प्रति) 'ध्वनि काव्य की आत्मा है'—यह कहा गया। जोड़ा फूटने से अर्थात् सहचरी के हनन के कारण साहचर्य के ध्वंस से उठा हुआ, क्रौञ्च का जो शोक (काव्य की भाषा में) स्थायिभावरूप है और जो पुनः न मिलने की निराश भावना से युक्त होने के कारण, विप्रलम्भ-श्रृङ्गारोचित रतिस्थायिभाव से विभिन्न है, वही (स्थायिभाव शोक), उस प्रकार के (मारी गई क्रौञ्ची रूप) विभाव और उससे उत्पन्न (क्रौञ्च रूप आश्रय का) आक्रन्दनादि अनुभावों की चर्वणा (आस्वाद) द्वारा, क्रम से आदि कवि के हृदय से संवाद होने पर उत्पन्न तन्मयता की दशा द्वारा आस्वाद्यमान होकर, करुण रस का रूप बना, जो लौकिक शोक से व्यतिरिक्त है तथा जिसका समास्वादन सहृदय अपने चित्त के द्रवीभाव द्वारा कर सकता है, फिर वही जलपूर्णकुम्भ के छलकने के समान, अथवा

लोचन

वच्चित्तवृत्तिनिःष्यन्दस्वभाववाग्विलापादिवच्च समयानपेक्षत्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यञ्जकत्वादिति नयेनाकृतकतयैवावेशवशात्समुचितशब्दच्छन्दोवृत्तादिनियन्त्रितश्लोकरूपतां प्राप्तः—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ इति ॥

न तु मुनेः शोक इति मन्तव्यम् । एवं हि सति तद्दुःखेन सोऽपि दुःखित इति कृत्वा रसस्यात्मतेति निरवकाशं भवेत् । न च दुःखसन्तप्तस्यैषा दशेति । एवं चर्वणोचित-शोकस्थायिभावात्मककरुणरससमुच्चलनस्वभावत्वात्स एव काव्यस्यात्मा सारभूतस्वभावोऽपर शाब्दवैलक्षण्यकारकः ।

एतदेवोक्तं हृदयदर्पणे—'यावत्पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्' इति । अगम

रश्मि

चित्तवृत्ति की निष्यन्दरूप स्वाभाविक (क्रोध, स्नेह आदि के व्यञ्जक लौकिक) वचन-प्रयोग के समान, (यद्यपि उस भाव की चर्वणा को किसी शब्द के साथ) सङ्केत सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रहती फिर भी चित्तवृत्ति के व्यञ्जक रूप (वाचक नहीं) होने के नाते स्वाभाविक रूप से भावावेश में स्वतः निस्सृत समुचित शब्द,छन्द, वृत्त आदि से नियन्त्रित होकर इस प्रकार श्लोकरूप में परिणत हो गया—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

इसे मुनि का शोक नहीं मानना चाहिए (शोक तो यह क्रौञ्च का है, मुनि को तो इसकी चर्वणा मात्र होती है, जो काव्य की प्रेरक रूप है) । क्योंकि यदि ऐसा (कवि का) होता तो क्रौञ्च के दुःख से (अथवा स्वयं उस दुःख से)* मुनि भी दुःखित हो जाते, और तब रस की आत्मरूपता की बात ही समाप्त हो जाती । क्योंकि दुःख से सन्तप्त मनुष्य काव्य की रचना नहीं करता । इस प्रकार (निष्कर्ष यह है कि) चर्वणा के उचित (योग्य) शोकरूपस्थायिभावात्मक करुण रस रूप से जिसका 'मा निषाद' आदि श्लोक में प्रसरण होता है वही काव्य की आत्मा है, उसका स्वरूप सारभूत होता है तथा वह (काव्य में) अन्य शब्द-प्रतिपाद्यों (गुणालङ्कार आदि) से विलक्षणता पैदा करता है ।

'हृदयदर्पण' में भी यही कहा है कि—"जब तक (हृदय) इस (रस) से परिपूर्ण नहीं होता तब तक वह उसे (रस को काव्य रूप में) नहीं छलकाता ।" 'अगमः'

*यहाँ 'तद्दुःखेन पद का दो प्रकार से विग्रह होगा (१) तस्य दुःखम् तेन—ष. तत्पु. । (२) तच्च तद्दुःखम् , तेन—कर्म-तत्पु' ।

विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः। तथा चादिकवेर्वाल्मीकेः निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः।

लोचन

इति च्छान्दसेनाडागमेन। स एवेत्येवकारेणेदमाह—नान्य आत्मेति। तेन यदाह भट्टनायकः—

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः।
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः॥
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत्॥

इति तदपास्तम्। व्यापारो हि यदि ध्वननात्मा रसनास्वभावस्तन्नापूर्वमुक्तम्। अथाभिधैव व्यापारस्तथाप्यस्याः प्राधान्यं नेत्यावेदितं प्राक्।

श्लोकं व्याचष्टे—विविधेति। विविधं तत्तदभिव्यञ्जनीयरसानुगुण्येन विचित्रं कृत्वा वाच्ये वाचके रचनायां च प्रपञ्चेन यच्चारु शब्दार्थालङ्कारगुणयुक्तमित्यर्थः। तेन सर्वत्रापि ध्वननसद्भावेऽपि न तथा व्यवहारः। आत्मसद्भावेऽपि क्वचिदेव जीवव्यवहार

रश्मि

में, छान्दस नियम से अडागम है (नहीं तो 'नमाङ्योगे' से निषेध होना चाहिए।) कारिका में 'स एव' में 'एव' का तात्पर्य यह है कि (रस ही काव्य की आत्मा है), अन्य कोई आत्मा नहीं। अतः भट्टनायक का यह कहना निराधार हो गया कि—'इन शब्द और अर्थ में शब्द का प्राधान्य होने पर शास्त्र होता है, अर्थतत्त्व (के प्राधान्य) से युक्त होने पर आख्यान, तथा (शब्द और अर्थ) दोनों के गौण होने पर केवल व्यापार के प्रधान होने पर काव्य-व्यवहार होना चाहिए।' क्योंकि यदि भट्टनायक का व्यापार ध्वननस्वरूप है तो उन्होंने यह कोई नवीन बात नहीं कही। और यदि अभिधा व्यापार से इनका तात्पर्य है तो काव्य में उसकी प्रधानता नहीं, हम पहले (व्यापारों के स्वरूप का निरूपण करते समय) कह चुके हैं।

अब वृत्तिकार 'विविध' इत्यादि के द्वारा, श्लोक की व्याख्या करते हैं। [लोचनकार को विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः पद का विग्रह इस प्रकार इष्ट है—विविधं वाच्यवाचकरचनासु प्रपञ्चेन चारु, तस्य।] वाच्यादि के द्वारा अभिव्यञ्जनीय रस की अनुकूलता द्वारा विचित्र बनाए गए, शब्द अर्थ और रचना के प्रपञ्च से सुन्दर जो काव्य—अर्थात् शब्द और अर्थ के अलङ्कार और गुण से युक्त। अतः ध्वनि के सर्वत्र विद्यमान रहने पर भी उसे काव्य नहीं कहा जाता (काव्य कहलाने के लिए उसे पहले विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारु होना आवश्यक है)। यह तो पहले ही कह चुके हैं कि यद्यपि आत्मा सर्वत्र होती है तथापि जीव-

शोको हि करुणस्थायिभावः । प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात् ।

लोचन

इत्युक्तं प्रागेव । तेनैतन्निरवकाशम्; यदुक्तं हृदयदर्पणे—'सर्वत्र तर्हि काव्यव्यवहारः स्यात्' इति । निहतसहचरीति विभाव उक्तः । आक्रन्दितशब्देनानुभावः । जनित इति । चर्वणागोचरत्वेनेति शेषः ।

ननु शोकचर्वणातो यदि श्लोक उद्भूतस्तत्प्रतीयमानं वस्तु काव्यस्यात्मेति कुत इत्याशङ्क्याह—शोको हीति । करुणस्य तच्चर्वणागोचरात्मनः स्थायिभावः । शोके हि स्थायिभावे ये विभावानुभावास्तत्समुचिता चित्तवृत्तिश्चर्व्यमाणात्मा रस इत्यौचित्यात्स्थायिनो रसतापत्तिरित्युच्यते । प्राक्स्वसंविदितं परत्रानुमितं च चित्तवृत्तिजातं संस्कारक्रमेण हृदयसंवादमादधानं चर्वणायामुपयुज्यते यतः । ननु प्रतीयमानरूपमात्मा तत्र त्रिभेदं प्रतिपादितं न तु रसैकरूपम्, अनेन चेतिहासेन रसस्यैवात्मभूतत्वमुक्तं भवतीत्याशङ्क्या-

रश्मि

व्यवहार कहीं कहीं ही किया जाता है । अतः 'हृदयदर्पण' का कथन "सर्वत्र (अर्थात् जहाँ भी ध्वनि हो जैसे सिंहो वटुः आदि में) काव्य-व्यवहार होना चाहिए" व्यर्थ हो गया । वृत्ति में 'निहतसहचरी'— यह विभाव कहा गया है और 'आक्रन्दित' शब्द से अनुभाव । 'जनितः' का तात्पर्य है कि चर्वणा द्वारा गोचरीकृत रूप से उत्पन्न किया गया—अर्थात् चर्वणायोग्य बनाया गया ।

यदि शोक की चर्वणा से श्लोक उद्भूत हुआ है, तो प्रतीयमान वस्तु (अर्थात् रस) काव्य की आत्मा कैसे होगी ?— यह आशङ्का करके वृत्तिकार 'शोको हि' इत्यादि कहते हैं । शोक की चर्वणा द्वारा गोचर होने वाले करुण रस का स्थायिभाव शोक है । (काव्य में वर्णित) शोक-रूप स्थायिभाव के विषय में जिन विभावानुभावों का वर्णन हुआ है उनके योग्य (अनुकूल) (प्रतिपत्ता—सहृदय की अपनी स्थायी) चित्तवृत्ति की चर्व्यमाणता (उद्रेक अथवा आस्वादन) ही रस है, इस प्रकार औचित्य के विचार से 'स्थायी भाव ही रस बनता है' यह कहा जाता है । क्योंकि सहृदय द्वारा जो पहले स्वयं अनुभूत रहती हैं, पुनः दूसरे में अनुमित होती हैं, और इस प्रकार संस्कार (वासना) रूप से स्थित स्थायी चित्तवृत्तियाँ, (काव्य में वर्णित स्थायिभाव के साथ) स्वहृदय से संवाद करती हुई, चर्वणोपयोगी बनती हैं ।

"प्रतीयमान अर्थ आत्म-स्वरूप कहा गया है । और उसके तीन प्रकार कहे गए हैं, केवल एक रस-रूप ही नहीं, और यहाँ इस ऐतिहासिक घटना से तो यह तात्पर्य निकलता है कि केवल रस ही अकेला आत्मा है"—यह आशङ्का करके अभ्युपगमपूर्वक उसका 'प्रतीयमानस्य च' इत्यादि के द्वारा वृत्तिकार उत्तर देते हैं ।

लोचन

भ्युपगमेनैवोत्तरमाह—प्रतीयमानस्य चेति। अन्यो भेदो वस्त्वलङ्कारात्मा। भावग्रहणेन व्यभिचारिणोऽपि चर्व्यमाणस्य तावन्मात्राविश्रान्तावपि स्थायिचर्वणापर्यवसानोचितरसप्रतिष्ठामनवाप्यापि प्राणत्वं भवतीत्युक्तम्। यथा—

नखं नखाग्रेण विघट्टयन्ती विवर्तयन्ती वलयं विलोलम्।
आमन्द्रमाशिञ्जितनूपुरेण पादेन मन्दं भुवमालिखन्ती॥

इत्यत्र लज्जायाः। रसभावशब्देन च तदाभासतत्प्रशमावपि संगृहीतावेव; अवान्तरवैचित्र्येऽपि तदेकरूपत्वात्। प्राधान्यादिति। रसपर्यवसानादित्यर्थः। तावन्मात्राविश्रान्तावपि चान्यशाब्दवैलक्षण्यकारित्वेन वस्त्वलङ्कारध्वनेरपि जीवितत्वमौचित्यादुक्तमिति भावः॥ ५॥

रश्मि

प्रतीयमान के अन्य (दो) भेद वस्तु और अलङ्कार रूप हैं। वृत्ति में 'भाव' शब्द से आस्वाद्यमान व्यभिचारी का भी आत्मत्व स्वीकृत किया है, यद्यपि उस आस्वाद्यमान व्यभिचारी मात्र में ही (काव्य का) पर्यवसान नहीं होता और न वह व्यभिचारी स्थायी की चर्वणा में पर्यवसित होने वाले रस की प्रतिष्ठा को ही प्राप्त करता है। जैसे—

"नखं नखाग्रेण विघट्टयन्ती विवर्तयन्ती वलयं विलोलम्।
आमन्द्रमाशिञ्जितनूपुरेण पादेन मन्दं भुवमालिखन्ती॥"

इस श्लोक में (नायिका के) 'लज्जा' व्यभिचारी भाव की (चर्वणा प्राणरूप) है। 'रस' और 'भाव' शब्दों के द्वारा रसाभास, भावाभास, और भावप्रशम भी समझने चाहिएँ। (क्योंकि) यद्यपि रसाभास भावाभास इत्यादि में (अनौचित्यप्रवृत्तरूप) अवान्तर-वैचित्र्य हैं, तथापि वे (रसभावाभासादि) भी रसभावादि के ही रूप तो हैं। वृत्ति में 'प्राधान्यात्' का तात्पर्य 'रस में पर्यवसान होने से' है। यद्यपि वस्तु और अलङ्कार ध्वनियों का पर्यवसान (उन प्रतीयमान वस्तु अलङ्कार तक में ही नहीं होता अपितु रस में ही होता है), तथापि वे भी अन्य शब्द-प्रतिपाद्यों से विलक्षणता पैदा करते ही हैं अतः उन वस्तु और अलङ्कार ध्वनियों को भी काव्य की आत्मा कहा है।*॥५॥

---

*कारिकाकार यही बात आगे के उद्योत में कहेंगे—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्॥

ध्वन्या. ४।५ [contd.]

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।। ६ ।।

लोचन

एवमितिहाससमुखेन प्रतीयमानस्य काव्यात्मतां प्रदर्श्य स्वसंवित्सिद्धमप्येतदिति दर्शयति—सरस्वतीति । वाग्रूपा भगवतीत्यर्थः । वस्तुशब्देनार्थशब्दं तत्त्वशब्देन च वस्तुशब्दं व्याचष्टे—निःष्यन्दमानेति । दिव्यमानन्दरसं स्वयमेव प्रस्नुवानेत्यर्थः । यदाह भट्टनायकः—

वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद्बालतृष्णया ।
तेन नास्य समः स स्याद्दुह्यते योगिभिर्हि यः ।।

तदावेशेन विनाप्याक्रान्त्या हि यो योगिभिर्दुह्यते । अत एव—

रश्मि

इस प्रकार इतिहास की घटना द्वारा प्रतीयमान अर्थ की काव्यात्मरूपता दिखाकर अब उसको सहृदयों का स्वानुभवसिद्ध भी बता रहे हैं । 'सरस्वती' का अर्थ है वाणीरूपा भगवती । 'अर्थवस्तु' में 'अर्थ' शब्द की, वृत्ति में 'वस्तु' द्वारा, और 'वस्तु' की 'तत्त्व' द्वारा व्याख्या की है । 'निःष्यन्दमाना' अर्थात् अलौकिक आनन्द रूप रस स्वयं ही बहाती हुई । जैसा कि भट्टनायक ने कहा है—

"अपने वत्स (सहृदय) के प्रति तृष्णा (अनुराग) वश, वाग्-रूपी धेनु जो रस-रूप दुग्ध देती है—उस (रसदुग्ध) के समान वह दुग्ध नहीं होता है जो योगी लोग दुहते हैं ।"

धेनु (वाणी) में तृष्णा (रस) के आवेश के बिना ही, योगीजन आक्रान्ति द्वारा (बलात्) जिसे दुहते हैं । (उसकी अपेक्षा वत्स के अनुरागवश

कवि द्वारा काव्यरचना के समय अनुभूत भाव ही काव्य में व्यक्त होता है और उसी का सहृदय उस काव्य में अनुभव करता है—अतः वही भाव काव्य की आत्मा माना जाता है । नाट्य-शास्त्र की

"यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा ।
तथामूलं रसाः सर्वे तेभ्योभावा व्यवस्थिताः ।।" ६।४२

कारिका की व्याख्या करते हुए अपनी 'अभिनव-भारती' में अभिनव जी ने कुछ इसी प्रकार कहा है—"एवं मूलबीजस्थानीयात् कविगतो रसः । कविर्हि सामाजिक तुल्य एव । तत एवोक्तम् 'शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये' इत्याद्यानन्दवर्धनाचार्येण । ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम् । तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः । तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः । तेन रसमयमेव विश्वम्" ।

तत् वस्तुतत्त्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तम् अभिव्यनक्ति । येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते ।

लोचन

यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ॥

इत्यनेन साराग्र्यवस्तुपात्रत्वं हिमवत उक्तम् । 'अभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तमिति' । प्रतिपत्तॄन् प्रति सा प्रतिभा नानुमीयमाना, अपि तु तदावेशेन भासमानेत्यर्थः । यदुक्तमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन—'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः' इति । 'प्रतिभा' अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा; तस्या 'विशेषो' रसावेशवैशद्यसौन्दर्यं काव्यनिर्माणक्षमत्वम् । यदाह मुनिः—'कवेरन्तर्गतं भावं' इति । येनेति । अभिव्यक्तेन स्फुरता प्रतिभाविशेषेण निमित्तेन महाकवित्वगणनेति यावत् ॥ ६ ॥

रश्मि

दिया गया दुग्ध उत्तम होता है) इसीलिए—"सभी पर्वतों ने जिस हिमवान् को वत्स बनाकर, दुहने में दक्ष मेरु को दुहने वाला बनाकर, पृथु से आज्ञा पाकर पृथ्वी से भासमान रत्न और महान् औषधियाँ दुहीं थीं।"—यह कहकर हिमालय को प्रधान एवं श्रेष्ठ वस्तुओं का पात्र (अधिकारी या योग्य) बताया है। 'अभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं' का अर्थ है कि (काव्य पढ़ने वाले) सहृदय उस (काव्य में निहित) कवि की प्रतिभा का अनुमान रूप ज्ञान नहीं करते, अपितु वह (काव्यनिहितकविप्रतिभा) उन सहृदयों में स्वयं आविष्ट होकर भासित हो उठती है (अर्थात् वे भी उसी प्रकार का अनुभव करने लगते हैं)। जैसा कि हमारे उपाध्याय भट्टतौत ने कहा है—'फिर नायक, कवि, और सहृदय की अनुभूति एक ही हो जाती है।' 'प्रतिभा'* का अर्थ है अभिनव वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा। उस प्रतिभा का 'विशेष', अर्थात् रसावेश के कारण विशद और सुन्दर काव्य के निर्माण की क्षमता। जैसा कि भरत मुनि ने (भाव की परिभाषा करते हुए) कहा है कि—'कवि के अन्तर्गत भाव को (काव्य

---

*भट्टतौत ने अपने 'काव्यकौतुक' में 'प्रतिभा' की इस प्रकार परिभाषा की है तथा अन्य बौद्धिक शक्तियों से इसमें भेद बताया है—"स्मृतिर्व्यतीतविषया मतिरागामिगोचरा। बुद्धिस्तात्कालिकी प्रोक्ता प्रज्ञा त्रैकालिकी मता। प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता। तदनुप्राणनाजीवद्वर्णनानिपुणः कविः। तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्।" इति।

इदं चापरं प्रतीयमानस्यार्थस्य सद्भावसाधनं प्रमाणम्—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥७॥

सोऽर्थो यस्मात्केवलं काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव ज्ञायते। यदि च वाच्यरूप एवासावर्थः स्यात्तद्वाच्यवाचकरूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिः स्यात्। अथ च

लोचन

इदं चेति। न केवलं 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इत्येतत्कारिकासूचितौ स्वरूपविषयभेदावेव; यावद्भिन्नसामग्रीवेद्यत्वमपि वाच्यातिरिक्तत्वे प्रमाणमिति यावत्। वेद्यत इति। न तु न वेद्यते, येन न स्यादसाविति भावः। काव्यस्य तत्त्वभूतो योऽर्थस्तस्य भावना वाच्यातिरेकेणानवरतचर्वणा तत्र विमुखानाम्। स्वराः षड्जादयः सप्त। श्रुतिर्नाम शब्दस्य वैलक्षण्यमात्रकारि यद्रूपान्तरं तत्परिमाणा स्वरतदन्तरालोभयभेदकल्पिता द्वाविंशतिविधा। आदिशब्देन जात्यंशकग्रामरागभाषाविभाषान्तरभाषादेशीमार्गा गृह्यन्ते। प्रकृष्टं गीतं गानं येषां ते प्रगीताः, गातुं वा प्रारब्धा

रश्मि

द्वारा सहृदयों को) अनुभव कराने के कारण उसे "भाव" कहते हैं।' येनेति। काव्य में उल्लसित अपनी प्रतिभा- विशेष के अभिव्यक्त होने के कारण ही वह कवि 'महाकवि' रूप से गिना जाता है। ॥६॥

'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इत्यादि कारिका में सूचित केवल स्वरूप और विषय का ही भेद वाच्य और प्रतीयमान में नहीं है, अपितु प्रतीयमान अर्थ का, वाच्य से भिन्न सामग्री द्वारा बोधगम्य होना भी—दोनो की भिन्नता में प्रमाण है। कारिका में 'वेद्यते' का अर्थ है कि सहृदय प्रतीयमान वस्तु को समझता है, अन्यथा प्रतीयमान की सत्ता ही न होती। वृत्ति में 'काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानां' का तात्पर्य है—काव्य का जो तत्त्वभूत प्रतीयमान अर्थ उसकी भावना अर्थात् वाच्य से पृथक रूप वाले उस प्रतीयमान को समझने का अभ्यास, उससे जो विमुख हैं। स्वर षड्जादि सात होते हैं। शब्दों का केवल स्वरूप-भेद करने वाले जो रूपान्तर उतने ही समय परिमाण तक स्थायी रहने वाली स्वर के पूर्व तथा पश्चात् दोनों पार्श्वों में विभिन्न रूप से मानी जाने वाली श्रुति होती है। वह बाइस प्रकार की होती है। 'स्वरश्रुत्यादि' में 'आदि' शब्द द्वारा जाति, अंशक, ग्राम, राग, भाषा, विभाषा, अन्तरभाषा, तथा देशी मार्ग समझने चाहिएँ। 'प्रगीताः' अर्थात् जिनके गान प्रकृष्ट हैं (बहुव्रीहि समास), अथवा, 'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च' सूत्र के अनुसार आदि कर्म में कर्ता अर्थ में क्त प्रत्यय

वाच्यवाचकलक्षणमात्रकृतश्रमाणां काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानां स्वरश्रुत्यादिलक्षणमिवाऽप्रगीतानां गान्धर्वलक्षणविदामगोचर एवासावर्थः ।*

---

*'काव्य प्रकाश' में कहते हैं—

अपि च वाच्योऽर्थः सर्वान् प्रतिपत्तृन् प्रति एकरूप एवेति नियतोऽसौ। न हि 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ वाच्योऽर्थः क्वचिदन्यथा भवति। प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्त्रादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते। तथा च 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यतः सपत्नं प्रत्यवस्कन्दनावसर इति अभिसरणमुपक्रम्यतामिति प्राप्तप्रायस्ते प्रेयानिति कर्मकरणान्निवर्तामहे इति सांध्यो विधिरुपक्रम्यतामिति दूरं मा गा इति सुरभयो गृहं प्रवेश्यन्तामिति संतापोऽधुना न भवतीति विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्तामिति नागतोऽद्यापि प्रेयानित्यादिरनवधिर्व्यङ्ग्योऽर्थः तत्र तत्र प्रतिभाति।

वाच्यव्यङ्ग्ययोः निःशेषेत्यादौ निषेधविध्यात्मना

"मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम्।"

इत्यादौ संशयशान्तशृङ्गार्यन्तरगतनिश्चयरूपेण

"कथमवनिप दर्पो यन्निशातासिधारा—
दलनगलितमूर्ध्ना विद्विषां स्वीकृता श्रीः।
ननु तव निहतारेरप्यसौ किं न नीता
त्रिदिवमपगताङ्गैर्वल्लभा कीर्तिरेभिः॥"

इत्यादौ निन्दास्तुतिवपुषा स्वरूपस्य

पूर्वपश्चाद्भावेन प्रतीतेः कालस्य शब्दाश्रयत्वेन शब्दतदेकदेशतदर्थवर्णसंघटनाश्रयत्वेन च आश्रयस्य शब्दानुशासनज्ञानेन प्रकरणादिसहायप्रतिभानैर्मल्यसहितेन तेन चावगम इति निमित्तस्य बोद्धृमात्रविदग्धव्यपदेशयोः प्रतीतिमात्रचमत्कृत्योश्च करणात् कार्यस्य गतोऽस्तमर्क इत्यादौ प्रदर्शितनयेन संख्यायाः

"कस्स व ण होइ रोसो दट्ठूण पिआइ सव्वणं अहरं।
सभमरपडमग्घाइणि वरिअवामे सहसु एण्हिं" ॥

इत्यादौ सखीतत्कान्तादिगतत्वेन विषयस्य च भेदेऽपि यद्येकत्वम् तत् क्वचिदपि नीलपीतादौ भेदो न स्यात्। उक्तं हि "अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च" इति।

और 'साहित्यदर्पण' में इसे एक कारिका में संक्षिप्त किया है—

बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः ॥ ५।२ ॥

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्राधान्यं तस्यैवेति दर्शयति—

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥८॥

व्यङ्ग्योऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन, न शब्दमात्रम् । तावेव शब्दार्थौ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ । व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनां, न वाच्यवाचकरचनामात्रेण ।

लोचन

इत्यादिकर्मणि क्तः । प्रारम्भेण चात्र फलपर्यन्तता लक्ष्यते ॥ ७ ॥

एवमिति । स्वरूपभेदेन भिन्नसामग्रीज्ञेयत्वेन चेत्यर्थः । प्रत्यभिज्ञेयावित्यर्हार्थे कृत्यः, सर्वो हि तथा यतते इतीयता प्राधान्ये लोकसिद्धत्वं प्रमाणमुक्तम् । नियोगार्थेन च कृत्येन शिक्षाक्रम उक्तः । प्रत्यभिज्ञेयशब्देनेदमाह—

'काव्यं तु जातु जायेत कस्यचित्प्रतिभावतः' इति नयेन यद्यपि स्वयमस्यैतत्परिस्फुरति, तथापीदमित्थमिति विशेषतो निरूप्यमाणं सहस्रशाखीभवति । यथोक्तमस्मत्परम-

रश्मि

करने पर 'प्रगीताः' का अर्थ होगा—जिन्होंने गान प्रारम्भ किया है (अर्थात् सिद्धान्ततः ही नहीं प्रयोगतः भी जानना शुरू किया है ।)—यहाँ प्रारम्भ से फलपर्यन्तता लक्षित होती है ॥७॥

'एवं' अर्थात् स्वरूप-भेद से और भिन्न सामग्री से बोधगम्यता से । 'प्रत्यभिज्ञेयौ' में अर्ह (योग्य होना, अनिवार्य होना) अर्थ में कृत्य-प्रत्यय यत् का प्रयोग हुआ है अर्थात् सभी सहृदय उन (व्यञ्जक शब्द और व्यङ्ग्य अर्थ) को (योग्य रूप से या अनिवार्य रूप से) जानने की इच्छा से प्रयत्न करते हैं, इस प्रकार यत् के प्रयोग द्वारा (व्यञ्जक शब्द और व्यङ्ग्य अर्थ की) प्रधानता के विषय में उनकी सहृदय लोक में प्रसिद्धि प्रमाण रूप से कह दी गई है । और यदि कृत्य का प्रयोग नियोगार्थ में मानें तो कविशिक्षाप्रकार का तात्पर्य होगा (अर्थात् ऐसे शब्द और अर्थ को पहिचानना चाहिए) । 'प्रत्यभिज्ञेय' शब्द द्वारा यह कहा गया है कि–'काव्य तो कभी किसी प्रतिभावान् में ही उत्पन्न होता है ।' इस सिद्धान्त के अनुसार, यद्यपि काव्य कवि में स्वयं ही स्फुरित होता है, तथापि इदमित्थम् रूप (विभिन्न प्रकार) से विशेषतः निरूप्यमाण होता हुआ वह (काव्य) अनेकों शाखाओं(प्रकारों) वाला हो जाता है । (अर्थात् उन उन व्यञ्जक शब्दों और व्यङ्ग्य अर्थों के कार्य-विशेषों का विवेचन करने पर उन्हीं से काव्य के सहस्र प्रकार हो जाते हैं ।) जैसा कि हमारे परमगुरु (गुरु के गुरु) श्री उत्पलपाद ने कहा है कि—

इदानीं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः प्राधान्येऽपि यद्वाच्यवाचकावेव प्रथममुपाददते कवयस्तदपि युक्तमेवेत्याह—

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः ।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः ॥९॥

लोचन

गुरुभिः श्रीमदुत्पलपादैः —

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा ।
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ॥इति॥

तेन ज्ञातस्यापि विशेषतो निरूपणमनुसन्धानात्मकमत्र प्रत्यभिज्ञानं, न तु तदेवेद-मित्येतावन्मात्रम् । महाकवेरिति । यो महाकविरहं भूयासमित्याशास्ते । एवं व्यङ्ग्यस्यार्थस्य व्यञ्जकस्य शब्दस्य च प्राधान्यं वदता व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्यापि प्राधान्यमुक्तमिति ध्वनति ध्वन्यते ध्वननमिति त्रितयमप्युपपन्नमित्युक्तम् ॥८॥

ननु प्रथमोपादीयमानत्वाद्वाच्यवाचकतद्भावस्यैव प्राधान्यमित्याशङ्क्योपायानामेव प्रथममुपादानं भवतीत्यभिप्रायेण विरुद्धोऽयं प्राधान्ये साध्ये हेतुरिति दर्शयति—

रश्मि

'जिस प्रकार, अनेक प्रार्थनाओं से प्राप्त, और नायिका के समीप ही स्थित नायक को न पहचानकर उसे साधारण जन समझती हुई नायिका, उसके प्रति आसक्त नहीं होती, उसी प्रकार अपनी आत्मा-रूप विश्वेश्वर, उनके गुणों को न पहिचानने के कारण, लोगों को अपना ऐश्वर्य दिखाने में समर्थ नहीं होते (अर्थात् लोग उस आत्मानन्द का अनुभव नहीं करते) । इसीलिए यह उसकी पहचान (प्रत्यभिज्ञादर्शन) बताई गई ।'

अतः यहाँ ज्ञात वस्तु का भी अनुसन्धान रूप से विशेष प्रकार का निरूपण ही प्रत्यभिज्ञान हुआ, केवल उसका यह वही है इस रूप का ज्ञान-मात्र नहीं । 'महाकवेः' अर्थात् जो यह अभिलाषा करता है कि 'मैं महाकवि बन जाऊँ' । इस प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ और व्यञ्जक शब्द की प्रधानता बताते हुए व्यङ्ग्य और व्यञ्जक-भाव (अर्थात् व्यञ्जना व्यापार) की भी प्रधानता कह दी गई । इस प्रकार व्यञ्जक शब्द, व्यङ्ग्य अर्थ, और व्यञ्जना व्यापार तीनों का ध्वनति, ध्वन्यते तथा ध्वननम् इति व्युत्पत्ति से (क्रम से कर्त्ता, कर्म और भाव में प्रत्यय करने पर) ध्वनि कहलाना ठीक है ॥८॥

प्रथम प्रयुज्यमान होने के कारण वाच्य, वाचक और अभिधाव्यापार ही प्रधान

यथा ह्यालोकार्थी सन्नपि दीपशिखायां यत्नवाञ्जनो भवति तदुपायतया। न हि दीपशिखामन्तरेणालोकः सम्भवति। तद्वद्व्यङ्ग्यमर्थं प्रत्यादृतो जनो वाच्येऽर्थे यत्नवान् भवति। अनेन प्रतिपादकस्य कवेर्व्यङ्ग्यमर्थं प्रति व्यापारो दर्शितः।

प्रतिपाद्यस्यापि तं दर्शयितुमाह—

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ॥१०॥

यथा हि पदार्थद्वारेण वाक्यार्थावगमस्तथा वाच्यार्थप्रतीतिपूर्विका व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्रतिपत्तिः।

लोचन

इदानीमित्यादिना। आलोकनमालोकः; वनितावदनारविन्दादिविलोकनमित्यर्थः। तत्र च्चोपायो दीपशिखा ॥९॥

प्रतिपदिति भावे क्विप्। 'तस्य वस्तुन' इति व्यङ्ग्यरूपस्य सारस्येत्यर्थः। अनेन श्लोकेनात्यन्तसहृदयो यो न भवति तस्यैष स्फुटसंवेद्य एव क्रमः। यथात्यन्तशब्दवृत्तज्ञो यो न भवति तस्य पदार्थवाक्यार्थक्रमः। काष्ठाप्राप्तसहृदयभावस्य तु वाक्यवृत्तकुशलस्येव सन्नपि क्रमोऽभ्यस्तानुमानाविनाभावस्मृत्यादिवदसंवेद्य इति दर्शितम् ॥१०॥

रश्मि

होते हैं— ऐसी शङ्का करके उसका समाधान करते हैं कि प्रथम उपादान तो उपायों का ही होता है अतः यदि आप प्रथम प्रयुज्यमान होने के कारण वाच्य और वाचक को प्रधान मानेंगे तो आपका हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हो जाएगा। इसी को 'इदानीं' इत्यादि के द्वारा कहते हैं। 'आलोक' का अर्थ है चाक्षुषज्ञान अर्थात् वनितावदन, अरविन्द आदि को देखना। इसमें दीपशिखा उपायरूप होती है ॥९॥

'प्रतिपत्' में भाव में क्विप् है (अर्थात् प्रतिपत्ति)। कारिका में 'तस्य वस्तुनः' का अर्थ है—सारभूत व्यङ्ग्य अर्थ का। जो व्यक्ति अत्यन्त सहृदय नहीं होता है, उसको प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति इस श्लोक में वर्णित क्रम द्वारा ही होती है। उसी प्रकार जैसे जो शब्द-व्यापार को अच्छी तरह नहीं जानता (वाक्यार्थबोध में) उसके लिए ही पदार्थ और वाक्यार्थ का क्रम रहता है। परन्तु पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए सहृदय हृदय के लिए (जैसे वाक्यार्थ समझने में कुशल के लिए) विद्यमान होने पर भी वाच्य और प्रतीयमान का क्रम असंवेद्य रहता है जैसे जिसको अनुमान की व्याप्ति और स्मृति आदि का अभ्यास हुआ रहता है उसे हर बार क्रम का भान नहीं करना होता ॥१०॥

इदानीं वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वकत्वेऽपि तत्प्रतीतेर्व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्यं यथा न व्यालुप्यते तथा दर्शयति—

स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रतिपादयन् ।
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते ॥११॥

यथा स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रकाशयन्नपि पदार्थो व्यापारनिष्पत्तौ न भाव्यते विभक्ततया ।

तद्वत्सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम् ।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते ॥१२॥

लोचन

न व्यालुप्यत इति । प्राधान्यादेव तत्पर्यन्तानुसरणरणरणकत्वरिता मध्ये विश्रान्तिं न कुर्वत इति क्रमस्य सतोऽप्यलक्षणं प्राधान्ये हेतुः । स्वसामर्थ्यमाकाङ्क्षा-योग्यतासन्निधयः । विभाव्यत इति । विशब्देन विभक्ततोक्ता; विभक्ततया न भाव्यत इत्यर्थः । अनेन विद्यमान एव क्रमो न संवेद्यत इत्युक्तम् । तेन यत्स्फोटाभिप्रायेण-

रश्मि

व्याङ्ग्यार्थ के प्रधान होने के कारण ही, वहाँ (व्यङ्ग्यार्थ) तक पहुँचने की उत्सुकता से बेचैन सहृदय, बीच (वाच्यार्थ आदि) में विश्रान्ति नहीं करते । इस प्रकार (वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के बीच में) क्रम होते हुए भी, उसकी प्रतीति नहीं होती—जो व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता सिद्ध करने में कारण है । (प्रधान के पास पहुँचने वाले का मुख्य उद्देश्य वहाँ तक पहुँचना होता है, बीचमें मिलने वालों की वह परवाह नहीं करता ।) 'स्वसामर्थ्य' अर्थात् पदार्थ की सामर्थ्य से यहाँ अभिप्राय आकाङ्क्षा, योग्यता और सन्निधि से है । विभाव्यते इति । 'वि' शब्द के द्वारा पृथक्ता कही गई है, अर्थात् (वाक्यार्थ की निष्पत्ति होने पर पदों का अर्थ) अलग से नहीं प्रतीत होता । इसके द्वारा यह कहा गया है कि (पदार्थ और वाक्यार्थ में) क्रम होते हुए भी प्रतीत नहीं होता । अतः (वैयाकरणों* के

---

*अखण्डमेव वाक्यं बोधकमखण्डार्थस्येत्युचितम् । तदुक्तम्—
"यथैवानर्थकैर्वर्णैर्विशिष्टार्थोऽभिधीयते ।
पदैरनर्थकैरेवं विशिष्टार्थोऽभिधीयते ॥" वा. प. २।४१६
"न हि किञ्चित् पदं नामरूपेण नियतं क्वचित् ।
पदानामर्थरूपं च वाक्यार्थादेव जायते ॥" वा. प. ३।७६
"वाक्येऽखण्डत्वं च अपृथगुपस्थितिजनकत्वम् ।
अपृथगुपस्थितिविषयत्वं चार्थेऽखण्डत्वम् ॥" लघुमञ्जूषा ॥

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्यार्थस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्रकृत उपयोजयन्नाह—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।। १३ ।।

लोचन

सन्नेव क्रम इति व्याचक्षते तत्प्रत्युत विरुद्धमेव । वाच्येऽर्थे विमुखो विश्रान्तिनिबन्धनं परितोषमलभमान आत्मा हृदयं येषामित्यनेन सचेतसामित्यस्यैवार्थोऽभिव्यक्तः । सहृदयानामेव तर्ह्ययं महिमास्तु, न तु काव्यस्यासौ कश्चिदतिशय इत्याशङ्क्याह—अवभासत इति । तेनात्र विभक्तता न भासते, न तु वाच्यस्य सर्वथैवानवभासः । अत एव तृतीयोद्योते घटप्रदीपदृष्टान्तबलाद्व्यङ्ग्यप्रतीतिकालेऽपि वाच्यप्रतीतिर्न विघटत इति यद्वक्ष्यति तेन सहास्य ग्रन्थस्य न विरोधः ।। ११ ।। १२ ।।

सद्भावमिति । सत्तां साधुभावं प्राधान्यं चेत्यर्थः । द्वयं हि प्रतिपिपादयिषितम् । प्रकृत इति लक्षणे । उपयोजयन् उपयोगं गमयन् । तमर्थमिति चायमुपयोगः ।

रश्मि

अभिप्राय से) जो इस कारिका की यह व्याख्या करते हैं कि, वाक्यार्थ अविभक्त-स्फोट-रूप होता है तथा उसमें पदार्थ का क्रम नहीं होता, उनका यह कथन व्यङ्ग्य अर्थ की सिद्धि के प्रत्युत विरुद्ध पड़ेगा ।

'वाच्यार्थविमुखात्मनाम्' का अर्थ है—जिनका हृदय वाच्यार्थ से विमुख अर्थात् जो वाच्यार्थ में विश्रान्तिरूप परितोष नहीं प्राप्त करते । इस 'वाच्यार्थ-विमुखात्मनाम्' पद द्वारा 'सचेतसाम्' इस पद का अर्थ अभिव्यक्त किया गया है । तो सहृदयों की ही यह महिमा है, काव्य का इसमें कुछ वैशिष्ट्य नहीं—ऐसी शङ्का करके कहते हैं–अवभासते इति । इस प्रकार इस वाच्यार्थ की सत्ता व्यङ्ग्यार्थ से अलग भासित यद्यपि नहीं होती, तथापि उसका सर्वथा (स्वरूपतः) अभाव भी नहीं होता । इसीलिए तृतीय उद्योत में घटप्रदीप दृष्टान्त के आधार पर जब यह कहेंगे कि व्यङ्ग्य-प्रतीति-काल में भी वाच्य की प्रतीति नष्ट नहीं होती, तब प्रस्तुत कथन के साथ उसका विरोध नहीं होगा ।।११, १२।।

सद्भाव का अर्थ है सत्ता और महत्ता अर्थात् प्राधान्य । (ध्वनि के प्रति) ये दोनों ही अर्थ वृत्तिकार को कहना इष्ट हैं । 'प्रकृते' अर्थात् प्रस्तुत ध्वनि के लक्षण में । ' उपयोजयन् ' का अर्थ है—' उपयोग बताते (अथवा, करते) हुए' । कारिका में 'तमर्थ' के द्वारा उस (सद्भावप्राप्त) व्यङ्ग्य का उपयोग हुआ है ।

यत्रार्थो वाच्यविशेषः वाचकविशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः, स काव्यविशेषो ध्वनिरिति । अनेन वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च

लोचन

स्वशब्द आत्मवाची । स्वश्चार्थश्च तौ स्वार्थौ ; तौ गुणीकृतौ याभ्याम् ; यथासंख्येन तेनार्थो गुणीकृतात्मा, शब्दो गुणीकृताभिधेयः । तमर्थमिति । 'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु' इति यदुक्तम् । व्यङ्क्तः द्योतयतः । व्यङ्क्त इति द्विवचनेनेदमाह— यद्यप्यविवक्षितवाच्ये शब्द एव व्यञ्जकस्तथाप्यर्थस्यापि सहकारिता न त्रुट्यति, अन्यथा अज्ञातार्थोऽपि शब्दस्तद्व्यञ्जकः स्यात् । विवक्षितान्यपरवाच्ये च शब्दस्यापि सहकारित्वं भवत्येव, विशिष्टशब्दाभिधेयतया विना तस्यार्थस्याव्यञ्जकत्वादिति सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननं व्यापारः । तेन यद्भट्टनायकेन द्विवचनं दूषितं तद्गजनिमीलिकयैव । अर्थः शब्दो वेति तु विकल्पाभिधानं प्राधान्याभिप्रायेण ।

रश्मि

(अर्थात् जब उसकी सत्ता सिद्ध है तभी तो उसके लिए 'तत्' सर्वनाम का प्रयोग किया जा सका है ।) 'स्वार्थौ' में 'स्व' शब्द स्वरूपवाची है । 'स्वार्थौ' अर्थात् स्वरूप और अर्थ दोनों । ये दोनों गुणीभूत कर दिए जिन्होंने । अर्थात् अर्थ और शब्द क्रमशः (अर्थ) अपने स्वरूप को, और (शब्द) अपने अर्थ को गौण कर देता है । 'तमर्थं' का तात्पर्य है—'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु' इत्यादि (कारिका) में जो अर्थतत्त्व कहा गया है वह । 'व्यङ्क्तः' अर्थात् द्योतित करते हैं । इसमें द्विवचन के प्रयोग का यह अभिप्राय है कि— यद्यपि अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलक, शाब्दी) में शब्द ही व्यञ्जक होता है, तथापि उसमें अर्थ की भी सहकारिता नहीं नष्ट होती है, अन्यथा अज्ञात अर्थ वाला शब्द भी उस (व्यङ्ग्य) अर्थ का व्यञ्जक हो जाए । और विवक्षितान्यपरवाच्य में (अभिधामूलक, आर्थी में) अर्थ के प्रधान रूप से व्यञ्जक होने पर भी शब्द की सहकारिता होती ही है, क्योंकि विशेष प्रकार के शब्दों का वाच्यार्थ बने बिना वह अर्थ व्यञ्जक हो ही नहीं सकता । इस प्रकार सर्वत्र शब्द और अर्थ दोनों की ही व्यञ्जना क्रिया हुआ करती है ।

अतः भट्टनायक ने 'व्यङ्क्तः' में जो द्विवचन के प्रयोग को दूषित कहा है—वह बिना विचार किए हुए ही कहा है । वृत्ति में 'अर्थः शब्दो वा' में विकल्प अर्थ वाले 'वा' शब्द का प्रयोग प्रधानता के प्रति किया गया है अर्थात् कहीं अर्थ की प्रधानता होगी, शब्द सहकारी रूप में होगा ; और कहीं शब्द प्रधान रूप से व्यञ्जक होगा, अर्थ की सहकारिता होगी । 'काव्यविशेषः' अर्थात् काव्य-

लोचन

काव्यं च तद्विशेषश्चासौ काव्यस्य वा विशेषः । काव्यग्रहणाद्गुणालङ्कारोपस्कृत-शब्दार्थपृष्ठपाती 'ध्वनिलक्षण आत्मे' त्युक्तम् । तेनैतन्निरवकाशं श्रुतार्थापत्तावपि ध्वनिव्यवहारः स्यादिति । यच्चोक्तम्—'चारुत्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यस्यात्मा स्यात्' इति तदङ्गीकुर्म एव । नाम्नि खल्वयं विवाद इति । यच्चोक्तम्—'चारुणः प्रतीतिर्यदि काव्यात्मा प्रत्यक्षादिप्रमाणादपि सा भवन्ती तथा स्यात्' इति । तत्र शब्दार्थमयका-व्यात्माभिधानप्रस्तावे क एष प्रसङ्ग इति न किञ्चिदेतत् । स इति । अर्थो वा शब्दो वा, व्यापारो वा । अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्येवम् । व्यङ्ग्यो वा

रश्मि

रूपी विशिष्ट रचना (ध्वनि), अथवा काव्य का विशिष्ट भाग (ध्वनि) । 'काव्य' शब्द के द्वारा यह कहा है कि जो ध्वनिरूप आत्मा है वह गुणालङ्कारों से उपस्कृत शब्दार्थ से व्यङ्ग्य होने पर ही आत्मा रूप ध्वनि कही जाती है । अतः यह कहने का अवसर ही नहीं रह जाता है कि श्रुतार्थापत्ति में भी ध्वनि-व्यवहार होना चाहिए । और जो यह कहें कि— 'तब काव्य की आत्मा चारुत्वप्रतीति ही होनी चाहिए *'

तो यह हमें स्वीकार है । और तब आपका हमारा विवाद केवल नाम के विषय में रह गया (अर्थात् आपने भी गुणादि से व्यतिरिक्त किसी वस्तुविशेष को काव्य का जीवित माना, जो हमारा ही मत है । हाँ उसका नाम आप 'चारु-त्वप्रतीति' रखते हैं, हम 'ध्वनि', यही उसके नाम के विषय में हमारा आपका वैमत्य रह जायगा ।) और जो यह कहा है कि—"चारुत्वप्रतीति यदि काव्य की आत्मा है तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी चारुता की प्रतीति होने के कारण वहाँ भी काव्यात्मा होनी चाहिए ।" इसका उत्तर यह है कि शब्दार्थमय काव्य की आत्मा की चर्चा के प्रसङ्ग में यह कैसा प्रसङ्ग ? अतः यह शङ्का ही निरर्थक है ।

स इति । शब्द, अर्थ और व्यापार—ये तीनों ही ध्वनि हैं । जो ध्वनित करे वह वाच्यार्थ ध्वनि है, इसी प्रकार ध्वनन करने वाला शब्द भी ध्वनि है । इसके अतिरिक्त जो ध्वनित हो—वह व्यङ्ग्यार्थ भी ध्वनि है । शब्द और अर्थ का ध्वनन व्यापार भी ध्वनि है । कारिका में तो प्रधानता की अपेक्षा से (इन व्यङ्ग्य अर्थ,

---

* इस शङ्का का पूर्ण स्वरूप कुछ इस प्रकार का है—"यदि चारुत्वहेतुतया प्रसिद्धेभ्यो गुणादिभ्योऽन्यः काव्यात्मा स्यात् तर्हि पारिशेष्याच्चारुत्वप्रतीतिरेव तदात्मास्तु तस्यादृष्टत्वात्, तत्परित्यागेनादृष्टवस्त्वन्तरपरिकल्पनागौरवात् इति तदतिरिक्तो न ध्वनिरित्याक्षेपः"—कौमुदी ।

विभक्त एव ध्वनेर्विषय इति दर्शितम् । यदप्युक्तम् —'प्रसिद्धप्रस्थानातिक्रमिणो मार्गस्य काव्यत्वहानेर्ध्वनिर्नास्ति' इति, तदप्ययुक्तम् । यतो लक्षणकृतामेव स केवलं न प्रसिद्धः, लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदय-

लोचन

ध्वन्यत इति व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति । कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम् । विभक्त इति । गुणालङ्काराणां वाच्यवाचकभावप्राणत्वात् । अस्य च तदन्यव्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसारत्वान्नास्य तेष्वन्तर्भाव इति । अनन्यत्र भावो विषयशब्दार्थः । एवं तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिरिति निराकृतम् । लक्षणकृतामेवेति । लक्षणकाराप्रसिद्धता विरुद्धो हेतुः ; तत एव हि यत्नेन लक्षणीयता । लक्ष्ये त्वप्रसिद्धत्वमसिद्धो हेतुः । यच्च नृत्तगीतादिकल्पं, तत्का-

रश्मि

व्यञ्जक शब्दार्थ तथा व्यञ्जना व्यापार की अपेक्षा इन चारों का समुदाय रूप काव्य अधिक प्रधान होगा इस विचार से 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस सिद्धान्त के अनुसार) इन चारों के समुदाय अर्थात् केवल काव्य को ही 'ध्वनि' कहा है । विभक्त इति । वाच्य अर्थ और वाचक शब्द रूप सम्बन्ध ही गुणालङ्कारों का प्राण है, और ध्वनि का उन वाच्य अर्थ और वाचक शब्द से भिन्न व्यङ्ग्य और व्यञ्जक रूप सम्बन्ध ही सार होता है, अतः गुणालङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता । 'विषय' शब्द का अर्थ है कि अन्यत्र उसका सद्भाव न होना । इस प्रकार प्रथम अभाववादियों का कथन कि "गुणालङ्कारों से भिन्न यह ध्वनि क्या है ?"—परास्त हो गया । और काव्यलक्षणकारों में ध्वनि की अप्रसिद्धता उसकी सत्ता को असिद्ध करने में विरुद्ध हेत्वाभास होगा । (अर्थात् यदि यह अनुमान करें कि "ध्वनेः अलक्षणीयत्वम्, लक्षणकाराप्रसिद्धत्वात्", तो इसमें हेतु विरुद्ध हो जाएगा,) चूँकि वह लक्षणकारों में अप्रसिद्ध है, इसीलिए तो उसका लक्षण अवश्य करना चाहिए । (अनुमान की भाषा कुछ इस प्रकार की होगी–'ध्वनिर्लक्षणीयो नास्ति, लक्षणकृतामप्रसिद्धत्वात्—अत्र लक्षणकृतामप्रसिद्धत्वं हि साध्यविपरीतेन लक्षणीयत्वेन व्याप्तम् ।) और यह हेतु कि 'ध्वनि लक्ष्य ग्रन्थों में अप्रसिद्ध होने के कारण अलक्षणीय है'—यह हेतु ही स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास होगा (अनुमान की भाषा कुछ इस प्रकार की होगी—'ध्वनिर्लक्षणीयो नास्ति, लक्ष्येष्वप्रसिद्धत्वात् । अत्र ध्वनौ लक्ष्येष्वप्रसिद्धत्वं स्वरूपत एव नास्ति ।) (क्योंकि महाभारतादि प्रसिद्ध लक्ष्य ग्रन्थों में ध्वनि का पूर्ण सद्भाव है ।) और जो ध्वनि को नृत्तगीतादि के समान कहा है, वह काव्यसम्बन्धी ध्वनि के विषय में बेतुकी बात ही है । (क्योंकि नृत्तगीत आदि कवि का कार्य न होने के कारण और ध्वनि

हृदयाह्लादकारि काव्यतत्त्वम् । ततोऽन्यच्चित्रमेवेत्यग्रे दर्शयिष्यामः । यदप्युक्तम्— 'कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तालङ्कारादिप्रकारेष्वन्तर्भावः' इति, तदप्यसमीचीनम् ; वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यङ्ग्यव्यञ्जकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वनेः कथमन्तर्भावः, वाच्यवाचकचारुत्वहेतवो हि तस्याङ्गभूताः, स त्वङ्गिरूप एवेति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । परिकरश्लोकश्चात्र—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः ।
वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तःपातिता कुतः ॥

लोचन

व्यस्य न किञ्चित् । चित्रमिति । विस्मयकृद्वृत्तादिवशात्, न तु सहृदयाभिलषणीयचमत्कारसाररसनिःष्यन्दमयमित्यर्थः । काव्यानुकारित्वाद्वा चित्रम्, आलेखमात्रत्वाद्वा, कलामात्रत्वाद्वा । अग्र इति ।

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थितम् ।
द्विधा काव्यं ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते ॥

इति तृतीयोद्द्योते वक्ष्यति । परिकरार्थं कारिकार्थस्याधिकावापं कर्तुं श्लोकः परिकरश्लोकः ।

रश्मि

कवि का कार्य होने के कारण इस शङ्का का यहाँ प्रसङ्ग ही नहीं उठता ।) चित्रमिति । विस्मय उत्पन्न करने वाले व्यापार के सद्भाव के कारण उसे चित्र काव्य कहते हैं । परन्तु उसमें सहृदय हृदय का अभिलषित चमत्कार-रूप प्राण वाला रस-निष्यन्द नहीं होता । अथवा काव्य का अनुकरण करने के कारण उस काव्य को चित्र कहते हैं । अथवा केवल आलेख रूप (वास्तविक कुछ नहीं) होने के कारण (उसे चित्र कहते हैं) । अथवा (काव्य की) कला-(अंश-) मात्र होने के कारण वह चित्र है । इसका वर्णन आगे होगा अर्थात् तृतीय उद्योत (३/४१) में कहा जाएगा कि :—

'इस प्रकार व्यङ्ग्य के प्रधान और गुणभाव से स्थित होने पर, काव्य दो प्रकार का होता है । और उनसे भिन्न को चित्र-(काव्य) कहते हैं ।'

कारिका के अर्थ में अधिक अर्थ का प्रक्षेप करने के लिए आए श्लोक को परिकरश्लोक कहते हैं ।

ननु यत्र प्रतीयमानस्यार्थस्य वैशद्येनाप्रतीतिः स नाम मा भूद् ध्वनेर्विषयः। यत्र तु प्रतीतिरस्ति, यथा—समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिपर्यायोक्तापह्नुतिदीपकसङ्करालङ्कारादौ, तत्र ध्वनेरन्तर्भावो भविष्यतीत्यादि निराकर्तुमभिहितम्—'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' इति। अर्थो गुणीकृतात्मा, गुणीकृताभिधेयः शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यनक्ति स ध्वनिरिति। तेषु कथं तस्यान्तर्भावः।

लोचन

यत्रेत्यलङ्कारे। वैशद्येनेति। चारुतया स्फुटतया चेत्यर्थः। अभिहितमिति भूतप्रयोग आदौ व्यङ्क्त इत्यस्य व्याख्यातत्वात्। गुणीकृतात्मेति। आत्मेत्यनेन स्वशब्दस्यार्थो व्याख्यातः। न चैतदिति। व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यम्। प्राधान्यं च यद्यपि असौ न चकास्ति; 'बुद्धौ तत्त्वावभासिन्यां' इति नयेनाखण्डचर्वणाविश्रान्तेः, तथापि विवेचकैर्जीवितान्वेषणे क्रियमाणे यदा व्यङ्ग्योऽर्थः पुनरपि वाच्यमेवानुप्राणयन्नास्ते तदा तदुपकरणत्वादेव तस्यालङ्कारता। ततो वाच्यादेव तदुपस्कृताच्चमत्कारलाभ इति। यद्यपि पर्यन्ते रसध्वनिरस्ति, तथापि मध्यकक्ष्यानिविष्टोऽसौ व्यङ्ग्योऽर्थो न रसोन्मुखीभवति स्वातन्त्र्येण अपि तु वाच्यमेवार्थं संस्कर्तुं धावतीति गुणीभूतव्यङ्ग—

रश्मि

'यत्र' का तात्पर्य 'अलङ्कार में' है। 'वैशद्येन' अर्थात् रमणीयता और सुस्पष्टता के साथ। 'अभिहितम्' में भूतकाल का प्रयोग इसलिए किया है क्योंकि 'व्यङ्क्तः' इत्यादि के द्वारा इसका व्याख्यान कर चुके हैं (नहीं तो नियमतः 'अभिधीयते' 'उच्यते' इत्यादि वर्तमान का ही प्रयोग होना चाहिए।) 'गुणीकृतात्मा' में 'आत्मा' शब्द के द्वारा 'स्व' शब्द का अर्थ कहा है। न चैतदिति। अर्थात् व्यङ्ग्य का प्राधान्य समासोक्ति में नहीं है। यद्यपि 'बुद्धौ तत्त्वावभासिन्याम्' इस नीति से गौण और प्रधान का विवेक किए बिना ही काव्य वाक्य की अखण्ड चर्वणा (रसादि व्यङ्ग्य रूप आस्वादन) में ही सहृदयमन की विश्रान्ति होने के कारण उस समय बुद्धि में व्यङ्ग्य का प्राधान्य नहीं अवभासित होता है, तथापि यौक्तिकी बुद्धि से प्राणभूत अर्थ का अन्वेषण करने पर ज्ञात होता है कि व्यङ्ग्यार्थ पुनः वाच्य को ही परिपुष्ट कर रहा है, अतः वाच्य को सजाने के कारण ही उस व्यङ्ग्य की अलङ्कारता सिद्ध होती है। अतः यहाँ व्यङ्ग्यार्थ से उपस्कृत वाच्यार्थ द्वारा ही चमत्कार दिखाई पड़ता है। यद्यपि पर्यवसान में यहाँ भी रसध्वनि है, तथापि मध्यमकक्ष्यानिविष्ट यह व्यङ्ग्यार्थ स्वयं स्वतन्त्र रूप से सीधे रस की ओर उन्मुख नहीं होता, अपितु वह वाच्यार्थ को ही सजाने के लिए मुड़

व्यङ्ग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः । न चैतत्समासोक्त्यादिष्वस्ति । समासोक्तौ तावत्—

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम् ॥

लोचन

यतोक्ता । समासोक्ताविति ।

यत्रोक्तौ गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानैर्विशेषणैः ।
सा समासोक्तिरुदिता संक्षिप्तार्थतया बुधैः ॥

रश्मि

पड़ता है, अतः इस व्यङ्ग्य को गुणीभूत व्यङ्ग्य कहा गया है ।*

समासोक्ताविति—(अब समासोक्ति की परिभाषा भामह के अनुसार देते हैं)—"जिस उक्ति में, उन्हीं समान विशेषणों के द्वारा, दूसरा अर्थ गम्य होता है, उसे विद्वानों ने (दो अर्थों के) संक्षिप्त होने के कारण समासोक्ति कहा है ।"

---

*रुय्यक ने व्यङ्ग्य अर्थ को अलङ्कार पक्ष में रखते हुए कहा था—"इह हि तावद् भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालङ्कारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतयाऽलङ्कार-पक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते । तथाहि—पर्यायोक्ताप्रस्तुतप्रशंसासमासोक्त्याक्षेपव्याजस्तुत्युपमेयो-पमानन्वयादौ वस्तुमात्रं गम्यमानं वाच्योपस्कारकत्वेन 'स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्' इति यथायोगं द्विविधया भङ्ग्या प्रतिपादितं तैः । रुद्रटेन तु भावालङ्कारो द्विधैवोक्तः । रूपकदीपकापह्नुतितुल्ययोगितादौ उपमाद्यलङ्कारो वाच्योपस्कारकत्वेनोक्तः । उत्प्रेक्षा तु स्वयमेव प्रतीयमाना कथिता । रसवत्प्रेयः प्रभृतौ तु रसभावादिर्वाच्यशोभा-हेतुत्वेनोक्तः । तदित्थं त्रिविधमपि प्रतीयमानमलङ्कारतया स्थापितमेव ।"

रसगङ्गाधरकार ने कुछ ऐसे ही आधार पर इस प्रकार विचार किया है—"इदं तु बोध्यम्—ध्वनिकारात् प्राचीनैर्भामहोद्भटप्रभृतिभिः स्वग्रन्थेषु कुत्रापि ध्वनिगुणी-भूतव्यङ्ग्यादिशब्दा न प्रयुक्ता इत्येतावतैव तैर्ध्वन्यादयो न स्वीक्रियन्ते—इत्याधुनिकानां वाचोयुक्तिरयुक्तैव यतः समासोक्तिव्याजस्तुत्यप्रस्तुतप्रशंसाद्यलङ्कारनिरूपणेन कियन्तोऽपि गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदास्तैरपि निरूपिताः । अपरश्च सर्वोऽपि व्यङ्ग्यप्रपञ्चः पर्यायोक्तकुक्षौ निक्षिप्तः । न हि अनुभवसिद्धोऽर्थो बलेनाप्यपह्नोतुं शक्यते । ध्वन्यादिशब्दैः परं व्यवहारो न कृतः । नह्येतावताऽनङ्गीकारो भवति । प्राधान्याद् अलङ्कार्यो हि ध्वनिरलङ्कारस्य पर्यायोक्तस्य कुक्षौ कथङ्कारं निविशताम् इति तु विचारान्तरम् ।"

इत्यादौ व्यङ्ग्येनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते समारोपित-नायिकानायकव्यवहारयोर्निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वात् ।

लोचन

इत्यत्र समासोक्तेर्लक्षणस्वरूपं हेतुर्नाम तन्निर्वचनमिति पादचतुष्टयेन क्रमादुक्तम् । उपोढो रागः सान्ध्योऽरुणिमा प्रेम च येन । विलोलास्तारका ज्योतींषि नेत्रत्रिभागाश्च यत्र । तथेति । झटित्येव प्रेमरभसेन च । गृहीतमाभासितं परिचुम्बितुमाक्रान्तं च । निशाया मुखं प्रारम्भो वदनकोकनदं चेति । यथेति । झटिति ग्रहणेन प्रेमरभसेन च । तिमिरं चांशुकाश्च सूक्ष्मांशवस्तिमिरांशुकं रश्मिशबलीकृतं तमःपटलं, तिमिरांशुकं नीलजालिका नवोढाप्रौढवधूचिता । रागाद्रक्तत्वात् सन्ध्याकृतादनन्तरं प्रेमरूपाच्च हेतोः । पुरोऽपि पूर्वस्यां दिशि अग्रे च । गलितं प्रशान्तं पतितं च । रात्र्या करणभूतया समस्तं मिश्रितम्; उपलक्षणत्वेन वा ।

रश्मि

इस कारिका में, चारों चरणों में समासोक्ति के क्रम से लक्षणस्वरूप, हेतु, नाम और व्युत्पत्ति कहे गये हैं । 'उपोढरागः' का (शशि-पक्ष में) अर्थ है—जिसने सन्ध्या की अरुणिमा धारण की है; अथवा (नायक पक्ष में)—जो प्रेम से युक्त है । 'विलोलतारकं' चञ्चल है तारक जिसमें, इसमें 'तारक' का अर्थ है तारे, और (पक्षान्तर में)—कटाक्ष । 'तथा' का अर्थ है 'शीघ्र ही', (पक्षान्तर में—) प्रेम के कारण शीघ्रता से । 'गृहीतम्' अर्थात् प्रकाशमय कर दिया, अथवा चुम्बन करने के लिए पकड़ा । 'निशा का मुख' अर्थात् (रात्रि का) प्रारम्भ, अथवा रक्तकमल के समान (नायिका का) मुख । 'यथा' का तात्पर्य है शीघ्र ग्रहण करने से, अथवा प्रेम के कारण शीघ्रता से । ('तिमिरांशुकं' का अर्थ है—) तिमिरं अर्थात् अन्धकार और अंशुकाः अर्थात् हल्की किरणें (इस प्रकार समाहार द्वन्द्व करने पर अर्थ हुआ) चन्द्र-रश्मियों से झिलमिल अन्धकार, अथवा तिमिरांशुक (अर्थात् योगरूढ अर्थ में) नवोढा युवती वधू के योग्य नील वर्ण का वस्त्र (ओढ़नी) । 'रागात्' अर्थात् सन्ध्याकृत रक्तिमा के ठीक बाद में, अथवा प्रेम के कारण । 'पुरोऽपि' का अर्थ है पूर्व दिशा में, अथवा सम्मुख । 'गलितम्' अर्थात् प्रशान्त हो गया, अथवा गिर गया । 'तया' का तात्पर्य (करणे तृतीया के अनुसार) है— करणभूत रात्रि की सहायता से मिश्रित हुए अन्धकार और किरणें, अथवा उपलक्षणे तृतीया के अनुसार रात्रि से उपलक्षित (युक्त होकर) मिश्रित हुये तिमिर और किरणें । (रात्रि से उपलक्षित होने पर ही चन्द्रमा की किरणों और अन्धकार का मिश्रण होता है, दिन से उपलक्षित होने पर तो न चन्द्रमा में किरणें ही होती हैं न अन्धकार ही, अतः मिश्रण की भी कोई चर्चा नहीं ।) 'न लक्षितम्' का (रात्रि पक्ष में) अर्थ

लोचन

न लक्षितं रात्रिप्रारम्भोऽसाविति न ज्ञातं, तिमिरसंवलितांशुदर्शने हि रात्रिमुखमिति लोकेन लक्ष्यते न तु स्फुट आलोके। नायिकापक्षे तु तयेति कर्तृपदम्। रात्रिपक्षे तु अपिशब्दो लक्षितमित्यस्यानन्तरः। अत्र च नायकेन पश्चाद्गतेन चुम्बनोपक्रमे पुरो नीलांशुकस्य गलनं पतनम्। यदि वा 'पुरोऽग्रे नायकेन तथा गृहीतं मुखमि'ति सम्बन्धः। तेनात्र व्यङ्ग्ये प्रतीतेऽपि न प्राधान्यम्। तथाहि नायकव्यवहारो निशाशशिनावेव शृङ्गारविभावरूपौ संस्कुर्वाणोऽलङ्कारतां भजते, ततस्तु वाच्यादिभावीभूताद्रसनिःष्यन्दः। यस्तु व्याचष्टे—'तया निशयेति कर्तृपदं, न चाचेतनायाः कर्तृत्वमुपपन्नमिति शब्देनैवात्र नायकव्यवहार उन्नीतोऽभिधेय एव, न व्यङ्ग्य इत्यत एव समासोक्तिः' इति। स प्रकृतमेव ग्रन्थार्थमत्यजद्व्यङ्ग्येनानुगतमिति। एकदेशविवर्ति चेत्थं रूपकं स्यात्,

रश्मि

है—लोगों ने नहीं जाना कि यह रात्रि का प्रारम्भ है, क्योंकि अन्धकार-मिश्रित किरणों (झिलमिल अँधेरे) को देखकर ही लोग रात्रि का प्रारम्भ समझते हैं, स्फुट प्रकाश में नहीं (उसे तो वे निशा ही समझते हैं।) नायिका-पक्ष में 'तया' कर्तृपद (अर्थात् कर्तरि तृतीया) है। रात्रिपक्ष में तो 'अपि' शब्द लक्षितम् के बाद रखना चाहिये। और यहाँ (नायिका पक्ष में) पीछे से आकर नायक द्वारा चुम्बन क्रिया के प्रारम्भ करने पर आगे की ओर नीलांशुक खिसक जाता है। अथवा (नायिका पक्ष में ही) नायक ने पुरः अर्थात् आगे से नायिका का मुख इस प्रकार पकड़ा—यह वाक्य-सम्बन्ध भी हो सकता है। अतः यहाँ व्यङ्ग्य (नायक नायिका सम्बन्धी अर्थ) की प्रतीति होने पर भी उसका प्राधान्य नहीं है, क्योंकि (व्यङ्ग्य रूप)नायक-नायिका का व्यवहार, शृङ्गार रस के (उद्दीपन) विभावरूप (में वर्णित इन) निशा और शशी को ही अलङ्कृत (उनकी उद्दीपनता को और अधिक वर्द्धित) करता हुआ स्वयं अलङ्काररूप ही रह जाता है। और इस प्रकार विभावभूत वाच्यार्थ (निशाशशी) द्वारा ही रस की निष्पत्ति (चर्वणा) हो रही है। जो इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि—"तया निशया--यह कर्तृपद है, और चूँकि अचेतन रात्रि में कर्तृत्व हो नहीं सकता अतः इन निशा शशी शब्दों द्वारा ही नायक-नायिका-व्यवहार यहाँ उत्प्रेक्षित अथवा कल्पित होने के कारण वाच्यार्थ रूप ही है, व्यङ्ग्य नहीं— और इसीलिए यह समासोक्ति है।"— वे इस (कथन में) प्रस्तुत ग्रन्थ (-भाग) के अर्थ को ही छोड़ देते हैं, जिसमें कहा है कि "व्यङ्ग्य द्वारा अनुगत वाच्य ही प्रधान रूप से प्रतीत होता है।" इसके अतिरिक्त इस प्रकार (नायक-नायिकाव्यवहार को अभिधेय मानने पर) वह एकदेशविवर्तिरूपक हो जाएगा—जैसे "सरोवर रूपी राजाओं को शरद् ही राजहंसों का पंखा कर रही थी"—

लोचन

'राजहंसैरवीज्यन्त शरदैव सरोनृपाः' इतिवत्, न तु समासोक्तिः; तुल्यविशेषणाभावात्। गम्यत इति चानेनाभिधाव्यापारनिरासादित्यलमवान्तरेण बहुना। नायिकाया नायके यो व्यवहारः स निशायां समारोपितः; नायिकायां नायकस्य यो व्यवहारः स शशिनि समारोपित इति व्याख्याने नैकशेषप्रसङ्गः।

रश्मि

इस काव्य-वाक्य में; वह समासोक्ति न होगी क्योंकि तुल्य-विशेषणों का अभाव रहेगा।

[अभिधेय रूप से नायक-नायिका का अर्थ रखने पर तिमिरांशुक पद में तिमिर रूप अंशुक इस प्रकार रूपक समास करना पड़ेगा, जो एकदेशविवर्ति रूपक का समावेश करना होगा, क्योंकि फिर तिमिरांशुक पद के पूर्वोक्त ढंग से दो अर्थ न हो सकेंगे, और अतएव वह समासोक्ति के लिए उपयोगी न हो सकेगा।]

और समासोक्ति की परिभाषा में 'गम्यते' के द्वारा अभिधा व्यापार का निराकरण होने के कारण भी (यहाँ नायक-नायिका पक्ष को अभिधेय रूप मानना ठीक नहीं है,) अच्छा, अब अधिक गौण बातों में नहीं बहकेंगे। नायिका का नायक के प्रति जो व्यवहार है वह निशा में समारोपित किया गया है, और नायिका के प्रति नायक का व्यवहार शशी में समारोपित है, अतः (वृत्ति में 'समारोपित-नायिकानायकव्यवहारयोः' इस पद में) नायिका और नायक में एकशेष (समास) का प्रश्न ही नहीं उठता—(यद्यपि व्याकरण के 'पुमान्स्त्रिया' नियम के अनुसार एकशेष हो सकता था।)*

---

*नायिका-नायक पद अलग अलग उक्त होकर अपने विशिष्ट व्यापार का द्योतन करते हैं जो क्रम से निशा और शशी में समारोपित हो रहा है—उनकी इस पृथक् स्वव्यापारद्योतनता को जताने के लिए ही दोनों का उल्लेख किया गया—एकशेष करने पर यह बात इतनी विशद न हो पाती। इस एक शेष नियम की उपेक्षा में यहाँ जो सौन्दर्य बन पड़ा है उसे अभिनव का ही लोचन ताड़ सका। इसी प्रसङ्ग में अपने रसगङ्गाधर में विवेचन करते समय पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीयता की झोंक में उस बारीकी को समझे बिना एकशेष कर ही दिया—"तस्मात् 'निशामुखं चुम्बति चन्द्रिकैषा' 'अहर्मुखं चुम्बति चण्डभानुः' इत्यादौ अप्रतीयमानं नायकत्वं प्रकृते टाप्-प्रथमाभ्यां प्रतिपादितेन प्रकृत्यर्थगतेन स्त्रीत्वेन पुंस्त्वेन च स्वाधिकरण एवाभिव्यज्यते। एवं च निशाशशिनोर्नायिकत्वसिद्धिः श्लिष्टविशेषणैः व्यञ्जनव्यापारेणैवाप्रकृतार्थबोधनम् शक्तेः प्रकरणादिना नियन्त्रणात्।"

आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाक्षेपिणोऽपि वाच्यस्यैव चारुत्वं। प्राधान्येन वाक्यार्थ आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते। तथाहि—तत्र शब्दोपारूढो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो य आक्षेपः स एव व्यङ्ग्यविशेषमाक्षिपन्मुख्यं

लोचन

आक्षेप इति।

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः॥

तत्राद्यो यथा—

अहं त्वां यदि नेक्षेय क्षणमप्युत्सुका ततः।
इयदेवास्त्वतोऽन्येन किमुक्तेनाप्रियेण ते॥

इति वक्ष्यमाणमरणविषयो निषेधात्माक्षेपः। तत्रेयदस्त्वित्येतदेवात्र म्रिये इत्यादिपदसच्चारुत्वनिबन्धनमित्याक्षेप्येणाक्षेपकमलङ्कृतं सत्प्रधानम्।
उक्तविषयस्तु यथा ममैव—

भो भोः किं किमकाण्ड एव पतितस्त्वं पान्थ कान्या गतिः
तत्ताद्दक्तृषितस्य मे खलमतिः सोऽयं जलं गूहते।
अस्थानोपनतामकालसुलभां तृष्णां प्रति क्रुध्य भोः
त्रैलोक्यप्रथितप्रभावमहिमा मार्गः पुनर्मारवः॥

रश्मि

"जहाँ विशेषता*बोधन करने के अभिप्राय से कहने के लिये इष्ट भी बात का निषेध-सा किया जाता है वहाँ आक्षेप अलङ्कार होता है। यह दो प्रकार का है—

१—वक्ष्यमाणविषयक और २—उक्तविषयक।" प्रथम (वक्ष्यमाणविषय) का उदाहरण जैसे—

"मैं यदि क्षण भर भी तुम्हें न देखूँ तो उत्कण्ठातिरेक से······इतना ही रहने दो, आगे तुम्हारी अप्रिय बात कहने से क्या लाभ ?"

यहाँ मरणविषयक वक्ष्यमाण अर्थ का निषेध स्वरूप आक्षेप किया गया है—यहाँ 'इतना ही रहने दो' यही (वाच्य अर्थ) 'म्रिये' (मर जाऊँगी) इस अर्थ का व्यञ्जन (आक्षेप) करता हुआ स्वयं चारुत्व का हेतु है, इस प्रकार व्यङ्ग्य (आक्षेप्य) द्वारा अलङ्कृत होकर वाच्य (आक्षेपक) ही यहाँ प्रधान हो रहा है।

---

*मम्मट ने इस विशेष की व्याख्या इस प्रकार से की है—अशक्यवक्तव्यत्वम् अतिप्रसिद्धत्वं वा विशेषं वक्तुम्—का. प्र. दशम उल्लास

लोचन

अत्र कश्चित्सेवकः प्राप्तः प्राप्तव्यमस्मात्किमिति न लभ इति प्रत्याशाविशस्यमानहृदयः केनचिदमुनाक्षेपेण प्रतिबोध्यते। तत्राक्षेपेण निषेधरूपेण वाच्यस्यैवासत्पुरुषसेवातद्वैफल्यतत्कृतोद्वेगात्मनः शान्तरसस्थायिभूतनिर्वेदविभावरूपतया चमत्कृतिदायित्वम्। वामनस्य तु 'उपमानाक्षेपः' इत्याक्षेपलक्षणम्। उपमानस्य चन्द्रादेराक्षेपः;

रश्मि

उक्तविषयक आक्षेप*[1] का उदाहरण है—

" 'हे पान्थ, तुम यहाँ बेमौके क्यों पड़े हो?' 'मुझ उस प्रकार प्यासे की अन्य क्या गति ही थी? किन्तु यह दुष्ट तो मुझसे जल छिपा रहा है।' 'अस्थान में उत्पन्न और अकाल में लगने वाली अपनी इस तृष्णा के ऊपर क्रोध करो। यह तो त्रैलोक्य में प्रसिद्ध प्रभाव वाला मरुस्थल का मार्ग है।' "

यहाँ, कोई सेवक (किसी मालिक के यहाँ) आया है। वह सोचता है कि मैं अपना उचित वेतन क्यों नहीं पा रहा हूँ—इस प्रकार प्रतिक्षण उत्पन्न आशा से व्यथित हृदय होता हुआ किसी (पुराने सेवक) द्वारा इस आक्षेप रूप से समझाया जा रहा है। यहाँ असत्पुरुष की सेवा के वैफल्य से उत्पन्न उद्वेग रूप वाच्य ही निषेधरूप आक्षेप द्वारा चमत्कृति को प्राप्त हो रहा है, क्योंकि वह वाच्य ही शान्त रस के स्थायिभाव निर्वेद के विभाव-रूप में है। *२

---

* १—मम्मट ने उक्तविषयक आक्षेप का बड़ा विशद उदाहरण दिया है—
"उक्तविषयो यथा—

"ज्योत्स्ना मौक्तिकदाम चन्दनरसः शीतांशुकान्तद्रवः
कर्पूरं कदलीमृणालवलयान्यम्भोजिनीपल्लवाः।
अन्तर्मानसमास्त्वया प्रभवता तस्याः स्फुलिङ्गोत्कर
व्यापाराय भवन्ति हन्त किमनेनोक्तेन न ब्रूमहे॥" का. प्र.

*२—यहाँ असत्पुरुष की सेवा की विफलता विभाव है, उससे उत्पन्न पान्थ का उद्वेग अनुभाव है। 'किं किमकाण्ड एव पतितः' इसमें पान्थ का अभीष्ट जो पतन फल उसके निषेधरूप आक्षेप (वाच्य) द्वारा आक्षिप्त (व्यञ्जित) जो असत्पुरुषों की सेवा का वैफल्यादि उससे अलङ्कृत होकर आक्षेपक अर्थात् अभीष्टपतनफलनिषेधरूप वाच्यार्थ ही प्रधान हो रहा है। यहाँ इस उदाहरण में एक बात और ध्यान देने की है कि वाच्यार्थरूप पान्थ, जल, मरुमार्ग आदि को अविवक्षित करके अभिनव ने उसके व्यङ्ग्य सेवक, धन, असत्पुरुष आदि को वाच्य माना है। वस्तुतः यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा पर आक्षेप की उद्भावना हुई है, अतः इसे सङ्कर अलङ्कार कहना अधिक उचित होगा।

लोचन

अस्मिन्सति किं त्वया कृत्यमिति । यथा—

तस्यास्तन्मुखमस्ति सौम्यसुभगं किं पार्वणेनेन्दुना
सौन्दर्यस्य पदं दृशौ यदि च तैः किं नाम नीलोत्पलैः ।
किं वा कोमलकान्तिभिः किसलयैः सत्येव तत्राधरे
ही धातुः पुनरुक्तवस्तुरचनारम्भेष्वपूर्वो ग्रहः ॥

अत्र व्यङ्ग्योऽप्युपमार्थो वाच्यस्यैवोपस्कुरुते । किं तेन कृत्यमिति त्वपहस्तनारूप आक्षेपो वाच्य एव चमत्कारकारणम् । यदि वोपमानस्याक्षेपः सामर्थ्यादाकर्षणम् । यथा—

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम् ।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार ॥

रश्मि

वामन ने आक्षेप का लक्षण 'उपमान का आक्षेप' माना है । अर्थात् चन्द्रादि उपमानों का इस (उपमेय मुखादि) के रहते हुए, 'तुम्हारा क्या काम' इस रूप का निषेध । उदाहरणार्थ—

"उस नायिका का सौम्य और सुन्दर मुख तो है ही फिर पूर्णिमा के चन्द्र से क्या प्रयोजन? रमणीयता के भाजन नेत्रों के होने पर उन नीलकमलों से क्या लाभ? उन अधरों के रहते हुए कोमल कान्ति वाले किसलयों से क्या प्रयोजन ? अहो खेद है कि निष्फल वस्तुओं की रचना-कार्य में विधाता का अपूर्व हठ होता है ।"

यहाँ यद्यपि (पूर्णिमाचन्द्रादि के साथ मुखादि का सादृश्य रूप) उपमा व्यङ्ग्य है, परन्तु (वह प्रधान नहीं है, अपितु) वाच्य को ही अलङ्कृत करती है । 'उस (उपमान) से क्या प्रयोजन' इस प्रकार का निराकरण रूप वाच्यार्थ ही चमत्कार उत्पन्न कर रहा है । अथवा, (जैसा कि वामन ने ही अपने सूत्र 'उपमानाक्षेपः' का दूसरा यह अर्थ किया है कि) 'वाच्यार्थ के बल पर उपमान का (व्यङ्ग्य रूप से) बोध होना ही आक्षेप अलङ्कार है,' उदाहरण, जैसे—

"पांडु वर्ण के पयोधर-मेघ (पक्षान्तर में वक्षस्थल) पर आर्द्र नखक्षत के समान इन्द्रधनुष को धारण करने वाली, और कलङ्क (चिह्न) सहित (पक्षान्तर में नायिकोपभोगजन्य कलङ्क से युक्त) चन्द्र (नायक) को प्रसन्न अर्थात् उज्ज्वल (पक्षान्तर में हर्षित) करती हुई शरदृतु (रूप नायिका) ने रवि (रूप अन्य नायक) के सन्ताप को और बढ़ा दिया ।"

काव्यशरीरम् । चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा । यथा—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः ।
अहो दैवगतिः कीदृक्तथापि न समागमः ॥

अत्र सत्यामपि व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यस्यैव चारुत्वमुत्कर्षवदिति तस्यैव प्राधान्यविवक्षा ।

लोचन

इत्यत्रेर्ष्याकलुषितनायकान्तरमुपमानमाक्षिप्तमपि वाच्यार्थमेवालङ्करोतीत्येषा तु समासोक्तिरेव । तदाह—चारुत्वोत्कर्षेति । अत्रैव प्रसिद्धं दृष्टान्तमाह—अनुरागवतीति । तेनाक्षेपप्रमेयसमर्थनमेवापरिसमाप्तमिति मन्तव्यम् । तत्रोदाहरणत्वेन समासोक्तिश्लोकः पठितः । अहो दैवगतिरिति । गुरुपारतन्त्र्यादिनिमित्तोऽसमागम इत्यर्थः । तस्यैवेति । वाच्यस्यैवेति यावत् । वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः, भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशयं हृदये गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोः युक्त्येदमेकमेवोदाहरणं व्यतरद्ग्रन्थकृत् । एषापि समासोक्तिर्वास्तु आक्षेपो वा, किमनेनास्माकम् । सर्वथालङ्कारेषु व्यङ्ग्यं वाच्ये गुणीभवतीति नः साध्यमित्यत्राशयोऽत्र ग्रन्थेऽस्मद्गुरुभिर्निरूपितः ।

रश्मि

तो यहाँ पर ईर्ष्याकलुषित नायकान्तर (नायिकान्तर भी) रूप उपमान आक्षिप्त होते हुए भी, वह वाच्यार्थ को ही अलङ्कृत करता है । किन्तु इस प्रकार तो यह (भामह की परिभाषा के अनुसार) समासोक्ति ही है । (चूँकि आक्षेप में वाच्य से चारुता होती है) इसीलिए कहा है कि वाच्य अथवा व्यङ्ग्य में जो चारुत्व का उत्कर्ष करे वही प्रधान होता है । इसी सिद्धान्त के प्रति एक प्रसिद्ध उदाहरण देते हैं—"अनुरागवती सन्ध्या इत्यादि" । इससे आक्षेपालङ्कार रूप विवेचनीय विषय का प्रसङ्ग अभी समाप्त नहीं समझना चाहिए । वरन् उस आक्षेप प्रसङ्ग के समर्थन में ही (चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना ······इत्यादि कथन की पुष्टि करने के लिए) यह समासोक्ति का श्लोक कहा गया है । 'अहो दैवगतिरिति' । अर्थात् गुरुजन के प्रति परतन्त्रता आदि के कारण समागम नहीं हो रहा है । तस्यैव—अर्थात् वाच्य की ही प्रधानता कहनी अभीष्ट है । यहाँ (अनुरागवती आदि उदाहरण में) वामन के मत से आक्षेप अलङ्कार और भामह के मत से समासोक्ति अलङ्कार है, इस बात को ध्यान में रखकर समासोक्ति और आक्षेप का, युक्ति से, यह एक ही सम्मिलित उदाहरण ग्रन्थकार ने दिया है । यहाँ चाहे समासोक्ति हो चाहे आक्षेप—इससे हमारा कोई प्रयोजन नहीं । सब तरह से अलङ्कारों में व्यङ्ग्य, वाच्य के प्रति गुणीभूत हो जाता है—यही हमें सिद्ध

यथा च दीपकापह्नुत्यादौ व्यङ्ग्यत्वेनोपमायाः प्रतीतावपि प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न तया व्यपदेशस्तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम् ।

लोचन

एवं प्राधान्यविवक्षायां दृष्टान्तमुक्त्वा व्यपदेशोऽपि प्राधान्यकृत एव भवतीत्यत्र दृष्टान्तं स्वपरप्रसिद्धमाह—यथा चेति । उपमाया इति । उपमानोपमेयभावस्येत्यर्थः । तयेत्युपमया । दीपके हि 'आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते' इति लक्षणम् ।

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिदलितः
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालललना ।
मदक्षीणो नागः शरदि सरिदाश्यानपुलिना
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः ॥

रश्मि

करना है—हमारे गुरू ने चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना से प्राधान्यविवक्षा तक के ग्रन्थभाग का इसी प्रकार व्याख्यान किया है।

इस प्रकार प्राधान्यविवक्षा के विषय में उदाहरण ('अनुरागवती सन्ध्या' इत्यादि) देकर यह बताते हैं कि (वाच्य या व्यङ्ग्य जो अंश) प्रधान होता है उसी के अनुसार उस अलङ्कार का नाम भी दिया जाता है और इसका दृष्टान्त 'यथा च···' इत्यादि के द्वारा ऐसा दे रहे हैं जो स्व पर दोनों पक्षों में प्रसिद्ध हो। 'उपमायाः' अर्थात् उपमानोपमेय सम्बन्ध की प्रतीति। 'तया' का अर्थ है 'उपमा से'। (भामह के अनुसार) दीपक अलङ्कार का लक्षण है—"वाक्य के आदि, मध्य और अन्त विषयक (अर्थात् भाग में कारक या क्रिया के रहने पर) तीन प्रकार का दीपक माना जाता है।"*दीपक का उदाहरण—

"शाण पर घर्षित मणि, शस्त्रों से क्षतविक्षत युद्धविजेता वीर, एक कलामात्र (प्रतिपदा का) चन्द्र, सुरतक्रीड़ा में थकी नवयुवती, मद के कारण (भोजन आदि त्याग देने से) क्षीण गज, शरत्काल में सूखते किनारे वाली नदी और याचकों में गलितवैभव दानी पुरुष—(ये सब) अपनी दुर्बलता से शोभित होते हैं।"

---

*दूसरी पङ्क्ति इस प्रकार है—"एकस्यैव व्यवस्थत्वादिति तद् भिद्यते त्रिधा।"

अनुक्तनिमित्तायामपि विशेषोक्तौ—

आहूतोऽपि सहायैः ओमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि ।
गन्तुमना अपि पथिकः सङ्कोचं नैव शिथिलयति ॥

लोचन

इत्यत्र दीपनकृतमेव चारुत्वम् । 'अपह्नुतिरभीष्टस्य किञ्चिदन्तर्गतोपमा' इति । तत्रापह्नुत्यैव शोभा । यथा—

नेयं विरौति भृङ्गाली मदेन मुखरा मुहुः ।
अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनिः ॥ इति ॥

एवमाक्षेपं विचार्योद्देशक्रमेणैव प्रमेयान्तरमाह—अनुक्तनिमित्तायामिति ।

एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्तुतिः ।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिरिति स्मृता ॥

रश्मि

यहाँ 'तनिम्ना शोभन्ते' (क्रियादीपन) में ही चारुत्व है। (इसी प्रकार भामह के अनुसार) 'अभीष्ट के छिपाने और कुछ उपमा रूप व्यङ्ग्य होने पर अपह्नुति अलङ्कार होता है।'*

उसमें (वाच्यरूप) अपह्नुति (छिपाने) द्वारा ही शोभा होती है, (व्यङ्ग्य रूप उपमा के द्वारा नहीं।) यथा—

'यह मद से मुखर भ्रमर-पङ्क्ति नहीं गूँज रही है, अपितु यह खींचे जाते हुए कामदेव के धनुष की ध्वनि है।'

इस प्रकार आक्षेप अलङ्कार का विवेचन करके उद्देश (वृत्ति में 'समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्त' इत्यादि संक्षेपतः नामोल्लेख)-क्रम से अनुक्तनिमित्त-विशेषोक्ति को कहते हैं।

(भामह के अनुसार विशेषोक्ति की परिभाषा है:—) "विशेष का ख्यापन करने के लिए, एक (कार्य-) भाग को छोड़कर दूसरे गुणों (कारण-धर्मों) का कथन करना विशेषोक्ति है।" [विशेषोक्ति में आपाततः देखने पर तो कारण की सामग्री रहते हुए भी कार्योत्पत्ति नहीं होती दिखाई पड़ती—किन्तु ध्यान से विचार करने पर कार्योत्पत्ति के अभाव का कुछ दूसरा ही कारण ज्ञात हो जाता है। किन्तु कभी वह कारण उक्त होता है कभी अनुक्त और कभी अचिन्त्य। इस प्रकार यह विशेषोक्ति तीन प्रकार की होती है—अचिन्त्यनिमित्ता, उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता। प्रथम

---

*इसकी दूसरी पंक्ति इस प्रकार है—"भूतार्थापह्नवादस्याः क्रियते चाभिधा यथा।"

इत्यादौ व्यङ्ग्यस्य प्रकरणसामर्थ्यात्प्रतीतिमात्रम् । न तु तत्प्रतीतिनिमित्ता काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति न प्राधान्यम् ।

लोचन

यथा—

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम् ॥

इयं चाचिन्त्यनिमित्तेति नास्यां व्यङ्ग्यस्य सद्भावः । उक्तनिमित्तायामपि वस्तुस्वभावमात्रत्वे पर्यवसानमिति तत्रापि न व्यङ्ग्यसद्भावशङ्का । यथा—

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान्यो जने जने ।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै कुसुमधन्वने ॥

तेन प्रकारद्वयमवधीर्य तृतीयं प्रकारमाशङ्कते—अनुक्तनिमित्तायामपीति । व्यङ्ग्यस्येति । शीतकृता खल्वार्तिरत्र निमित्तमिति भट्टोद्भटः, तदभिप्रायेणाह—न त्वत्र काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति । यत्तु रसिकैरपि निमित्तं कल्पितम्—'कान्तासमागमे गमनादपि लघुतरमुपायं स्वप्नं मन्यमानो निद्रागमबुद्ध्या सङ्कोचं नात्यजत्' इति तदपि निमित्तं चारुत्वहेतुतया नालङ्कारविद्भिः कल्पितम्, अपि तु विशेषोक्तिभाग एव न

रश्मि

का] उदाहरण जैसे—

"शिव जी ने जिसके शरीर को भस्म करके भी उसके बल का हरण नहीं किया, वह कामदेव अकेला ही तीनों लोकों को जीत लेता है ।"

यह अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति है । इसमें तो व्यङ्ग्य ही नहीं है । उक्तनिमित्ता में भी वस्तु के स्वरूप मात्र में ही अलङ्कार का पर्यवसान हो जाने से व्यङ्ग्य का सद्भाव नहीं होता । उदाहरणार्थः—

"कर्पूर के समान दग्ध होने पर भी (अर्थात् जैसे जलने के बाद कपूर की राख भी नहीं शेष बच पाती उसी प्रकार जिस मदन के जलने के बाद कुछ शेष चिह्न भी नहीं बचा है) जो प्रत्येक मनुष्य में शक्तिमान् है, उस अजेय शक्ति वाले कामदेव को नमस्कार है ।" (यहाँ पर शक्तिमान् होने का हेतु 'अवार्यवीर्य' उक्त है ।)

अतः उपर्युक्त इन दोनों प्रकारों को छोड़कर तृतीय प्रकार (अनुक्तनिमित्त) की ही आशङ्का वृत्तिकार करते हैं— अनुक्तनिमित्तायामपि इत्यादि के द्वारा । व्यङ्ग्यस्येति । भट्टोद्भट कहते हैं कि यहाँ पर न उठने का कारण 'शीत के कारण कष्ट' ही है । उसी अभिप्राय से कहा है—'न तु अत्र काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिः ।' और कुछ रसिकों (न कि सहृदयों) ने जो यह निमित्त कल्पित किया है कि—'गमन की अपेक्षा स्वप्न को प्रिया-समागम का लघुतर उपाय समझकर पथिक नींद लाने के विचार से

लोचन

शिथिलयतीत्येवम्भूतोऽभिव्यज्यमाननिमित्तोपस्कृतश्चारुत्वहेतुः । अन्यथा तु विशेषोक्तिरेवेयं न भवेत् । एवमभिप्रायद्वयमपि साधारणोक्त्या ग्रन्थकृन्न्यरूपयन्न त्वौद्भटेनैवाभिप्रायेण ग्रन्थो व्यवस्थित इति मन्तव्यम् ।

पर्यायोक्तेऽपीति ।

रश्मि

सिकुड़ा पड़ा है ।'—तो इस निमित्त को भी यहाँ आलङ्कारिकों ने चारुत्वहेतु नहीं माना है, अपितु अभिव्यज्यमान निमित्त (स्वप्न में कान्तासमागम की आशा) से अलङ्कृत विशेषोक्ति भाग 'सङ्कोचं नैव शिथिलयति' ही यहाँ चमत्कारजनक है । अन्यथा यहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार ही नहीं होगा । इस प्रकार केवल उद्भट के ही अभिप्राय नहीं अपितु दोनों ही अभिप्रायों को मन में रखकर ग्रन्थकार ने इस पर साधारण रूप से (न तु तत्प्रतीतिनिमित्ता काचिच्चारुत्वनिष्पत्ति यह) वृत्ति लिखी है यह समझना चाहिए ।

उद्भट के अनुसार—'जहाँ वाच्य और वाचक की वृत्ति से रहित व्यञ्जना-वृत्ति रूप दूसरे प्रकार से वही बात कही जाए वहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार होता है ।'*

---

*उद्भट ने अपने काव्यालङ्कार-सारसंग्रह में पर्यायोक्त की शब्दशः यही परिभाषा रक्खी है; जिसकी व्याख्या प्रतिहारेन्दुराज ने इस प्रकार की है—वाचकाभिधायकस्य स्वशब्दस्य वृत्तिर्व्यापारो वाच्यार्थप्रत्यायनम् । वाच्यस्य तु अभिधेयस्य व्यापारो वाच्यान्तरेण सहाकाङ्क्षासन्निधियोग्यतामाहात्म्यात् संसर्गगमनम् । एवंविधस्य यो वाच्यवाचकयोर्व्यापारस्तमन्तरेणापि प्रकारान्तरेणार्थसामर्थ्यात्मनाऽवगमस्वभावेन यदवगम्यते तत् पर्यायेण स्वकण्ठानभिहितमपि सान्तरेण शब्दव्यापारेण अवगम्यमानत्वात् पर्यायोक्तं वस्तु । तेन च स्वसंश्लेषवशेन काव्यार्थोऽलङ्क्रियते ।

रुय्यक ने अपने 'अलङ्कारसर्वस्व' में पर्यायोक्त की व्याख्या इस प्रकार की है—"गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम् । यदेव गम्यं तस्यैवाभिधाने पर्यायोक्तम् । गम्यस्य सतः कथमभिधानमिति चेत् गम्यापेक्षया प्रकारान्तरेण अभिधानस्य भावात् । नहि तस्यैव तदैव तथैव विच्छित्त्या गम्यत्वं वाच्यत्वं च सम्भवति । अतः कार्यमुखद्वारेणाभिधानम् । कार्यादेरपि तत्र प्रस्तुतत्वेन वर्णनार्हत्वात् । स्पृष्टास्ता नन्दने शच्याः केशसम्भोगलालिताः । सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकैः ।" इस पर साहित्य-दर्पणकार की व्याख्या उल्लेखनीय है—"अत्र हयग्रीवेण स्वर्गो विजित इति प्रस्तुतमेव गम्यं कारणं वैचित्र्यविशेषप्रतिपत्तये सैन्यस्य पारिजातमञ्जरीसावज्ञस्पर्शनरूप कार्यद्वारेण अभिहितम् ।" मम्मट ने पर्यायोक्त की परिभाषा इस प्रकार की है—"'पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः ।' वाच्यवाचकभावव्यतिरिक्तेनावगमनव्यापारेण यत् प्रतिपादनम् तत् पर्यायेण भङ्ग्यन्तरेण कथनात् पर्यायोक्तम् ।"

पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वं तद्भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः। न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भावः। तस्य महाविषयत्वेनाङ्गित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्।

लोचन

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥

इति लक्षणम्। यथा—

शत्रुच्छेददृढेच्छस्य मुनेरुत्पथगामिनः।
रामस्यानेन धनुषा देशिता धर्मदेशना॥ इति॥

अत्र भीष्मस्य भार्गवप्रभावाभिभावी प्रभाव इति यद्यपि प्रतीयते, तथापि तत्सहायेन देशिता धर्मदेशनेत्यभिधीयमानेनैव काव्यार्थोऽलङ्कृतः। अत एव पर्यायेण प्रकारान्तरेणावगमात्मना व्यङ्ग्येनोपलक्षितं सद्यदभिधीयते तदभिधीयमानमुक्तमेव सत्पर्यायोक्तमित्यभिधीयत इति लक्षणपदम्, पर्यायोक्तमिति लक्ष्यपदम्, अर्थालङ्कारत्वं सामान्यलक्षणं चेति सर्वं युज्यते। यदि त्वभिधीयत इत्यस्य बलाद्व्याख्यानमभिधीयते प्रतीयते प्रधानतयेति, उदाहरणं च 'भम धम्मिअ' इत्यादि, तदालङ्कारत्वमेव दूरे सम्पन्नमात्मतायां

रश्मि

यथा :—

"शत्रुविनाश के लिए कृतसङ्कल्प अतएव उन्मार्गगामी परशुराम को इन (भीष्म) ने अपने धनुष द्वारा धर्मपालन की शिक्षा दी।"

यहाँ 'भीष्म का प्रभाव, भार्गव (परशुराम) के प्रभाव को दबाने वाला है'—यह व्यङ्ग्य यद्यपि प्रतीत होता है, तथापि उस व्यङ्ग्य की सहायता से 'देशिता धर्मदेशना' इस वाच्यार्थ के द्वारा ही काव्यार्थ अलङ्कृत होता है (यह वाच्यार्थ ही प्रधान रूप से प्रतीत होता है।) अतएव उद्भट का लक्षण उचित ही है कि—पर्याय अथवा व्यङ्ग्यरूप प्रकारान्तर से उपलक्षित होकर भी जो अर्थ अभिधा द्वारा कहा जाता है वह अभिधीयमान ही पर्यायोक्त कहलाता है--यह लक्षणपद है (यहाँ पर्यायेण उपलक्षितम् च तद् उक्तम् इस प्रकार मध्यमपदलोपी समास है।); पर्यायोक्तम्--यह लक्ष्य पद है। इसके अतिरिक्त अर्थ की अलङ्कारता उसका (अलङ्कार होने का) सामान्य-लक्षण है (जो व्यङ्ग्य प्राधान्य में अलङ्कार्य होने के कारण सम्भव नहीं)। यदि परिभाषा में प्रयुक्त 'अभिधीयते' शब्द का बलात् यह व्याख्यान करके कि जो अभि अर्थात् प्रधान रूप से प्रतीत हो उसका उदाहरण 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि श्लोक दें, तो (पर्यायोक्त की) अलङ्कारता तो समाप्त ही हो जाएगी क्योंकि उसका पर्यवसान ध्वनि (आत्मा) में ही होगा (न कि वाच्यार्थ में।) और तब पर्यायोक्त को अलङ्कारों

न पुनः पर्यायोक्ते भामहोदाहृतसदृशे व्यङ्ग्यस्यैव प्राधान्यम्। वाच्यस्य तत्रोपसर्जनीभावेनाविवक्षितत्वात्।

लोचन

पर्यवसानात्। तदा चालङ्कारमध्ये गणना न कार्या। भेदान्तराणि चास्य वक्तव्यानि। तदाह—यदि प्राधान्येनेति। ध्वनाविति। आत्मन्यन्तर्भावादात्मैवासौ नालङ्कारस्स्यादित्यर्थः। तत्रेति। यादृशोऽलङ्कारत्वेन विवक्षितस्तादृशे ध्वनिर्नान्तर्भवति, न तादृगस्माभिर्ध्वनिरुक्तः। ध्वनिर्हि महाविषयः सर्वत्र भावाद्व्यापकः समस्तप्रतिष्ठास्थानत्वाच्चाङ्गी। न चालङ्कारो व्यापकोऽन्यालङ्कारवत्। न चाङ्गी,अलङ्कार्यतन्त्रत्वात्। अथ व्यापकत्वाङ्गित्वे तस्योपगम्येते, त्यज्यते चालङ्कारता,तर्ह्यस्मन्नय एवायमवलम्ब्यते केवलं मात्सर्यग्रहात्पर्यायोक्तवाचेति भावः। न चेयदपि प्राक्तनैर्दृष्टमपि त्वस्माभिरेवोन्मीलितमिति

रश्मि

के मध्य में न रखना चाहिए, तथा उसके अवान्तर भेद भी विवेचनीय होंगे। इसलिए वृत्ति में कहा है—यदि प्राधान्येन इत्यादि। ध्वनौ इति अर्थात् यदि पर्यायोक्त का अन्तर्भाव ध्वनि में कर देंगे (यदि पर्यायोक्त को ध्वनि मान लेंगे) तो वह आत्म-स्वरूप हो जाएगा और अलङ्कार न रहेगा।*

तत्रेति। अलङ्कार के नाते पर्यायोक्त का जो स्वरूप अभीष्ट है—उसमें ध्वनि अन्तर्भूत नहीं हो सकती, हमने ध्वनि को उस रूप की नहीं कहा है। ध्वनि का क्षेत्र तो विशाल है, (वर्ण,प्रत्यय, कारक, समास, अभिनय आदि) सर्वत्र विद्यमान होने के कारण व्यापक है, तथा गुण आदि सबकी प्रतिष्ठा (स्थिति) का आधार होने के कारण (अर्थात् गुणादिक सब ध्वनि-सम्बन्ध से ही अपनी सत्ता रखते हैं) अङ्गी अर्थात् प्रधान है। लोकप्रसिद्ध (अन्य कुण्डल कटक आदि) अलङ्कारों की भाँति काव्य के अलङ्कार भी व्यापक नहीं हैं (जैसे एक अङ्ग का आभूषण सब अङ्गों में नहीं पहना जा सकता, उसी प्रकार एक अलङ्कार एक ही प्रकार के किसी अर्थ में रहेगा।) तथा अलङ्कार्य के अधीन होने के कारण अलङ्कार प्रधान भी नहीं होते। यदि आप यह मानते हैं कि पर्यायोक्त का व्यङ्ग्य, व्यापक तथा अङ्गी (प्रधान) है और आप उसकी अलङ्कारता छोड़ देते हैं, तब तो आप हमारा ही मार्ग अपना रहे हैं, केवल हमारे प्रति ईर्ष्यालु होने के कारण आप उसे ('ध्वनि' न कहकर)'पर्यायोक्त'नाम दे रहे हैं। पर्यायोक्त के व्यङ्ग्य का यह इतना विवेचन प्राचीन आचार्यों द्वारा नहीं लक्षित किया गया था

*इसी आधार पर रसगङ्गाधरकार ने कहा है—"प्राधान्यादलङ्कार्यो हि ध्वनिरलङ्कारस्य पर्यायोक्तस्य कुक्षौ कथङ्कारं निविशतामिति तु विचारान्तरम्।"

अपह्नुतिदीपकयोः पुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं व्यङ्ग्यस्य चानुयायित्वं प्रसिद्धमेव ।

लोचन

प्राधान्यं शङ्क्येत । अपि तु तद्व्यङ्ग्योपोद्बलितं विप्रभोजनेन विना यन्न भोजनं तदेवोक्तप्रकारेण पर्यायोक्तं सत्प्राकरणिकं भोजनार्थमलङ्कुरुते । न ह्यस्य निर्विषं भोजनं भवत्विति विवक्षितमिति पर्यायोक्तमलङ्कार एवेति चिरन्तनानामभिमत इति तात्पर्यम् ।

अपह्नुतिदीपकयोरिति । एतत्पूर्वमेव निर्णीतम् । अत एवाह—प्रसिद्धमिति । प्रतीतं प्रसाधितं प्रामाणिकं चेत्यर्थः । पूर्वं चैतदुपमादिव्यपदेशभाजनमेव तद्यथा न भवतीत्यमुया छायया दृष्टान्ततयोक्तमप्युद्देशक्रमपूरणाय ग्रन्थशय्यां योजयितुं पुनरप्युक्तं 'व्यङ्ग्यप्राधान्याभावान्न ध्वनिरि'ति छायान्तरेण । वस्तु पुनरेकमेवोपमाया एव व्यङ्ग्यत्वेन ध्वनित्वाशङ्कनात् । यत्तु विवरणकृत्—दीपकस्य सर्वत्रोपमान्वयो नास्तीति बहुनोदाहरणप्रपञ्चेन विचारितवांस्तदनुपयोगि निस्सारं सुप्रतिक्षेपं च ।

रश्मि

की जाए । अपितु इस व्यङ्ग्य से मिश्रित, विप्रभोजन के बिना भोजन का न करना ही उक्त प्रकार से पर्यायोक्त होता हुआ प्राकरणिक (प्रस्तुत) भोजनार्थ (प्रकरणसिद्ध 'अधीतियों के भोजन से बचे हुए अन्न को खाता हूँ'—इस प्रकार के अर्थ) को अलङ्कृत करता है । 'कृष्ण का भोजन विषरहित हो जाए'—यह व्यङ्ग्य (विद्यमान होते हुए भी) अभीष्ट नहीं है । अतः तात्पर्य यह है कि पर्यायोक्त अलङ्कार रूप से ही प्राचीन (भामहप्रभृति) आचार्यों को अभिमत है ।

इनका निर्णय पहले ही हो चुका है । इसलिए वृत्तिकार ने 'प्रसिद्धमेव' कहा है । 'प्रसिद्ध' का अर्थ है—जो प्रतीत है, प्रसाधित है तथा प्रामाणिक है । यद्यपि पहले (आक्षेप अलङ्कार के प्रसङ्ग में) दृष्टान्तरूप से यह कहा गया है कि 'दीपक और अपह्नुति में उपमा रूप व्यङ्ग्य का सद्भाव होने पर भी उनका उपमा नाम, उसकी अप्रधानता के कारण, नहीं दिया जाता । तथापि उद्देश-क्रम को पूर्ण करने के लिए अर्थात् ग्रन्थशय्या ['या पदानां परान्योन्यमैत्री शय्येति कथ्यते ।' —प्रतापरुद्रयशोभूषण ।] की योजना (ग्रन्थ में आए पदों की सङ्गति बैठाने) के लिए पुनः प्रकारान्तर से कहते हैं—'दीपक और अपह्नुति में व्यङ्ग्य के अप्राधान्य के कारण ध्वनि नहीं होती है ।' बात एक ही है, क्योंकि दोनों स्थलों में उपमा के व्यङ्ग्य रूप में होने पर अपह्नुति और दीपक में ध्वनि होने की शङ्का की गई है । भामह-विवरणकार उद्भट ने जो यह कहा है कि 'दीपक अलङ्कार सर्वत्र उपमा से ही अन्वित नहीं होता,' और अनेकों उदाहरण देकर इसे सिद्ध किया है, तो उनका

लोचन

मदो जनयति प्रीतिं सानङ्गं मानभङ्गनम्।
स प्रियासङ्गमोत्कण्ठां सासह्यां मनसः शुचम् ॥इति।

अत्राप्युत्तरोत्तरजन्यत्वेऽप्युपमानोपमेयभावस्य सुकल्पत्वात्। न हि क्रमिकाणां नोपमानोपमेयभावः। तथा हि—

राम इव दशरथोऽभूद्दशरथ इव रघुरजोऽपि रघुसदृशः।
अज इव दिलीपवंशश्चित्रं रामस्य कीर्तिरियम् ॥

इति न न भवति। तस्मात्क्रमिकत्वं समं वा प्राकरणिकत्वमुपमां निरुणद्धीति कोऽयं त्रास इत्यलं गर्दभीदोहानुवर्तनेन।

रश्मि

यह कथन अनुपयोगी, सारहीन तथा सरलता से काटा जा सकता है। जैसे—

"मद प्रीति को उत्पन्न करता है, वह (प्रीति) मान तुड़वाने वाले काम को पैदा करती है, काम प्रिया-सङ्गम की अतीव उत्कण्ठा उत्पन्न करता है, तथा उत्कण्ठा मन में असह्य बेचैनी उत्पन्न करती है।"*

यहाँ यद्यपि पूर्वपूर्व से उत्तरोत्तर उत्पन्न होते हैं, तो भी परस्पर उपमानोपमेय-भाव आसानी से कल्पित किया जा सकता है। यह नियम नहीं है कि क्रमिक वस्तुओं में उपमानोपमेय भाव होता ही नहीं। क्योंकि:—

"राम के समान दशरथ हुए, दशरथ के समान रघु, तथा रघु के समान अज हुए। अज के सदृश दिलीप का वंश हुआ। आश्चर्य है कि कीर्त्ति राम की है!"

इस उदाहरण में, परस्पर राम और दशरथ इत्यादि में क्रम होते हुए भी उपमानोपमेय भाव है ही। अतः 'क्रमिकता अथवा समप्राकरणिकता उपमा को रोकती है,' यह कैसा व्यर्थ का भय है? अस्तु, निष्फल प्रयास करने से क्या लाभ?

---

*यद्यपि कुछ आचार्यों ने मदो जनयति आदि प्रकार का उदाहरण मालादीपक का माना है—दीपक का नहीं। उनके अनुसार मालादीपक का आधार शृङ्खला भाव होता है, दीपक का औपम्य। मालादीपक तो वस्तुतः दूसरा ही अलङ्कार है, दीपक से उससे कोई सम्बन्ध नहीं। जैसा कि पण्डितराज जगन्नाथ ने इसका विवेचन करते हुए लिखा है—उत्तरोत्तरस्मिन् पूर्वपूर्वस्योपकारकतायां मालादीपकम्। यथा—'आस्वादेन रसो रसेन कविता काव्येन वाणी यथा'—इत्यादि। एतच्च प्राचामनुरोधादस्माभिरिहोदाहृतम्। वस्तुतस्तु एतद् दीपकमेव न शक्यं वक्तुम्, सादृश्यसम्पर्काभावात्। किन्तु एकावलीप्रभेद इति वक्ष्यते। किन्तु भामह ने इसे दीपक का ही उदाहरण माना है—अतः अभिनव का विवेचन सङ्गत ही है।

सङ्करालङ्कारेऽपि यदालङ्कारोऽलङ्कारान्तरच्छायामनुगृह्णाति, तदा व्यङ्ग्य-

लोचन

सङ्करालङ्कारेऽपीति ।

"विरुद्धालंक्रियोल्लेखे समं तद्वृत्त्यसम्भवे ।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च सङ्करः ॥

इति लक्षणादेकः प्रकारः । यथा ममैव—

"शशिवदनासितसरसिजनयना सितकुन्ददशनपङ्क्तिरियम् ।
गगनजलस्थलसम्भवहृद्याकारा कृता विधिना ॥ इति ॥

अत्र शशी वदनमस्याः तद्वद्वा वदनमस्या इति रूपकोपमोल्लेखाद्युगपद्द्वया-सम्भवादेकतरपक्षत्यागग्रहणे प्रमाणाभावात्सङ्कर इति व्यङ्ग्यवाच्यताया एवानिश्चयात्का ध्वनिसम्भावना । योऽपि द्वितीयः प्रकारः—शब्दार्थालङ्काराणामेकत्रभाव इति तत्रापि प्रतीयमानस्य का शङ्का । यथा—स्मर स्मरमिव प्रियं रमयसे यमालिङ्गनात् इति ।

रश्मि

'विरुद्ध अलङ्कारों का वर्णन होने पर, उनकी एक साथ (एक स्थान पर) स्थिति असम्भव होने और किसी एक के मानने में कोई साधक या बाधक प्रमाण के न होने पर सन्देह सङ्कर अलङ्कार होता है ।'—इस लक्षण के अनुसार एक प्रकार का सङ्कर (सन्देह सङ्कर) हुआ । इसका उदाहरण लोचनकार स्वयं अपनी रचना देते हैं:—

'चन्द्रमुखी, नीलकमलनयनी, तथा शुभ्रकुसुमसदृश-दन्तपङ्क्ति वाली इस नायिका को विधाता ने गगन, जल और स्थल में उत्पन्न मनोहर वस्तुओं के आकार वाली बनाया है ।'

इस श्लोक में 'शशी एव वदनं यस्या सा शशिवदना' ऐसा समास मानने से रूपक, और 'शशिवद् वदनं यस्याः'—यह समास मानने से उपमा होती है । परन्तु चूँकि दोनों का एक साथ होना असम्भव है, अतः उपमा और रूपक दोनों में से क्या माना जाए—इसका कोई निर्णायक प्रमाण न होने के कारण यहाँ तन्मूलक सन्देह सङ्कर अलङ्कार है । इस प्रकार यहाँ (कौन अलङ्कार) वाच्य (है) और (कौन) व्यङ्ग्य (इस) का ही जब निश्चय नहीं, तो फिर ध्वनि की क्या सम्भावना ?

सङ्कर का जो दूसरा एकवाचकानुप्रवेशरूप भेद है (अर्थात् जिसमें शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारों की एक साथ सत्ता होती है) उसमें भी प्रतीयमान की क्या शङ्का ? इसका उदाहरण है—

"स्मर स्मरमिव प्रियं रमयसे यमालिङ्गनात् ।"

लोचन

अत्रैव यमकमुपमा च। तृतीयः प्रकारः—यत्रैकत्र वाक्यांशेऽनेकोऽर्थालङ्कारस्तत्रापि द्वयोः साम्यात्कस्य व्यङ्ग्यता। यथा—

तुल्योदयावसानत्वाद्गतेऽस्तं प्रति भास्वति।
वासाय वासरः क्लान्तो विशतीव तमोगुहाम्॥ इति॥

अत्र हि स्वामिविपत्तिसमुचितव्रतग्रहणहेवाकिकुलपुत्रकरूपणमेकदेशविवर्त्तिरूपकं दर्शयति। उत्प्रेक्षा चेवशब्देनोक्ता। तदिदं प्रकारद्वयमुक्तम्।

शब्दार्थवर्त्त्यलङ्कारा वाक्य एकत्र वर्त्तिनः।
सङ्करश्चैकवाक्यांशप्रवेशाद्वाभिधीयते॥ इति च।

चतुर्थस्तु प्रकारः यत्रानुग्राह्यानुग्राहकभावोऽलङ्काराणाम्। यथा—

रश्मि

यहाँ 'स्मर स्मर' पद की आवृत्ति से यमक रूप शब्दालङ्कार, और 'स्मरमिव' में उपमा अर्थालङ्कार का एकवाचकानुप्रवेश सङ्कर है। यहाँ तो प्रतीयमान की शङ्का का भी अवसर नहीं है।

सङ्कर का तृतीय प्रकार यह है:—जहाँ एक ही वाक्यांश में अनेक अर्थालङ्कार हों, वहाँ भी दोनों में वाच्य रूप साम्य होने से व्यङ्ग्य की क्या सम्भावना? जैसे:—

'सूर्य और वासर दोनों का उदय और अस्त साथ साथ होता है। अतः जब सूर्य अस्त होने लगा, तो मानों खिन्न होकर वासर भी निवास करने के लिए तमोगुहा में प्रवेश सा कर रहा है।'

इस श्लोक में स्वामि-विपत्ति के समय समुचित व्रतग्रहण के लिए उद्युक्त कुलपुत्रक (कुलीन पुरुष) का रूपण 'तमोगुहाम्' पद में स्थित एकदेशविवर्त्ति रूपक कर रहा है। इसके अतिरिक्त 'इव' शब्द के द्वारा उत्प्रेक्षा भी है। [इस प्रकार यहाँ रूपक और उत्प्रेक्षा दोनों के समान रूप से वाच्य होने के कारण उनमें किसी को व्यङ्ग्य कहा ही नहीं जा सकता।] इन पूर्वोक्त दूसरे और तीसरे दोनों प्रकारों के सङ्करों की परिभाषाएँ यों हैं:—

"जहाँ शब्दवर्त्ती तथा अर्थवर्त्ती, अर्थात् शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार दोनों एक ही वाक्य में स्थित हों वहाँ एकवाक्यप्रवेश अथवा एक वाक्यांश में अनेक अर्थालङ्कारों का प्रवेश हो, इन दो भेदों से दो प्रकार का सङ्करालङ्कार होता है।"

सङ्कर का चतुर्थ प्रकार अनुग्राह्य-अनुग्राहक सम्बन्ध रूप है अर्थात् जहाँ अलङ्कारों में परस्पर अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव हो वहाँ यह सङ्कर होता है। यथा—

स्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न ध्वनिविषयत्वम् । अलङ्कारद्वयसम्भावनायां तु वाच्यव्यङ्ग्ययोः समं प्राधान्यम् । अथ वाच्योपसर्जनीभावेन व्यङ्ग्यस्य

लोचन

प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या ।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ॥

अत्र मृगाङ्गनावलोकनेन तदवलोकनस्योपमा यद्यपि व्यङ्ग्या, तथापि वाच्यस्य सा सन्देहालङ्कारस्याभ्युत्थानकारिणीत्वेनानुग्राहकत्वाद्गुणीभूता, अनुग्राह्यत्वेन हि सन्देहे पर्यवसानम् । यथोक्तम्—

परस्परोपकारेण यत्रालङ्कृतयः स्थिताः ।
स्वातन्त्र्येणात्मलाभं नो लभन्ते सोऽपि सङ्करः ॥

तदाह—यदालङ्कार इत्यादि । एवं चतुर्थेऽपि प्रकारे ध्वनिता निराकृता । मध्यमयोस्तु व्यङ्ग्यसम्भावनैव नास्तीत्युक्तम् । आद्ये तु प्रकारे 'शशिवदने'त्याद्युदाहृते कथञ्चिदस्ति सम्भावनेत्याशङ्क्य निराकरोति—अलङ्कारद्वयेति । सममिति । द्वयोरप्यान्दोल्यमानत्वा-

रश्मि

"उस आयतनयना पार्वती ने, तेज हवा से चञ्चल नीलकमल के समान अधीर दृष्टि क्या मृगियों से ली, अथवा मृगियों ने उससे ली !"

यहाँ हरिणी की दृष्टि के समान पार्वती की दृष्टि है—यह उपमा यद्यपि व्यङ्ग्य है, तथापि वह सन्देहालङ्कार-रूप वाच्य को ही उत्पन्न कर (क्योंकि साधर्म्य के बिना सन्देह का अवसर ही नहीं हो सकता) अनुगृहीत करती है, अतः स्वयं गुणीभूत हो जाती है, क्योंकि उसका पर्यवसान सन्देह की पुष्टि में ही हो रहा है। जैसा कि कहा है—

'जहाँ अनेक अलङ्कार परस्पर उपकारक भाव [परस्पर उपकार को इस प्रकार समझना चाहिये—सन्देह को उत्पन्न कर उपमा उपकारक हो रही है; उपमा की चमत्कृति को सन्देह एक नया रूप दे रहा है अतः सन्देह उपमा का उपकारक है ।] से स्थित हों, स्वातन्त्र्य से नहीं, वहाँ भी (अङ्गाङ्गिभाव) सङ्कर होता है ।'

इसीलिए वृत्तिकार ने 'यदालङ्कार' इत्यादि कहा है । इस प्रकार सङ्कर के चतुर्थ प्रकार में भी ध्वनि का निराकरण कर दिया । यह कह ही चुके हैं कि बीच के अर्थात् दूसरे और तीसरे प्रकार के सङ्करों में ध्वनि की सम्भावना ही नहीं है । सङ्कर के प्रथम प्रकार अर्थात् सन्देह सङ्कर में, 'शशिवदना' इत्यादि उदाहरण में, व्यङ्ग्य की कुछ सम्भावना होती है—अतः उस शङ्का का निराकरण करते हैं—'अलङ्कारद्वय' इत्यादि के द्वारा । 'समम्' का अर्थ है—दोनों अलङ्कारों की वाच्यता तथा व्यङ्ग्यता होने के कारण

तत्रावस्थानं तदा सोऽपि ध्वनिविषयोऽस्तु, न तु स एव ध्वनिरिति वक्तुं शक्यम्। पर्यायोक्तनिर्दिष्टन्यायात् । अपि च, सङ्करालङ्कारेऽपि च क्वचित् सङ्करोक्तिरेव ध्वनिसम्भावनां निराकरोति ।

लोचन

दिति भावः । ननु यत्र व्यङ्ग्यमेव प्राधान्येन भाति तत्र किं कर्त्तव्यम् । यथा—

होइ ण गुणाणुराओ खलाणँ णवरं पसिद्धिसरणाणम् ।
किर पहिणुसइ ससिमणं चन्दे पिआमुहे दिट्ठे ॥

अत्रार्थान्तरन्यासस्तावद्वाच्यत्वेनाभाति, व्यतिरेकापह्नुती तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रधानतयेत्यभिप्रायेणाशङ्कते—अथेति । तत्रोत्तरम्—तदा सोऽपीति । सङ्करालङ्कार एवायं न भवति, अपि त्वलङ्कारध्वनिनामायं ध्वनेर्द्वितीयो भेदः । यच्च पर्यायोक्ते निरूपितं तत्सर्वमत्राप्यनुसरणीयम् । अथ सर्वेषु सङ्करप्रभेदेषु व्यङ्ग्यसम्भावनानिरासप्रकारं साधारणमाह—अपि चेति । 'क्वचिदपि सङ्करालङ्कारे च'ति सम्बन्धः, सर्वभेदभिन्न इत्यर्थः । सङ्कीर्णता हि मिश्रत्वं लोलीभावः, तत्र कथमेकस्य प्राधान्यं क्षीरजलवत् ।

रश्मि

समानता है। अब प्रश्न यह उठता है कि जहाँ (सङ्कर में) व्यङ्ग्य ही प्रधान रूप से भासित होता है वहाँ क्या करना चाहिये ? जैसे—

"केवल प्रसिद्धि चाहने वाले दुष्टों को गुणों से प्रेम नहीं होता। चन्द्रकान्त-मणि चन्द्रमा को देखकर तो द्रवित हो जाता है, किन्तु प्रिया के मुख को देख कर नहीं।"

यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार वाच्य रूप से सुशोभित है। किन्तु व्यतिरेक और अपह्नुति व्यङ्ग्य रूप में होने के कारण प्रधान हैं (अतः यहाँ सङ्कर अलङ्कार ध्वनि ही है)—इस अभिप्राय से आशङ्का करते हैं—अथेत्यादि। इसका उत्तर 'तदा सोऽपि' इत्यादि के द्वारा देते हैं। यह सङ्करालङ्कार ही न है अपितु अलङ्कार-ध्वनि का उदाहरण हो जाएगा। पर्यायोक्त के प्रसङ्ग में जो कुछ विवेचन किया गया है वह सब यहाँ भी समझना चाहिए। अब सङ्कर के सभी प्रभेदों में ध्वनि की सम्भावना के निराकरण का एक सामान्य सिद्धान्त कहते हैं— अपि चेति। 'क्वचिदपि सङ्करालङ्कारे च'—इस प्रकार अन्वय करना चाहिए, अर्थात् सब भेदों सहित (सङ्करालङ्कार में)। [अर्थात् सङ्करालङ्कार में कहीं भी या सभी भेदों में सङ्कर नाम ही ध्वनि कहलाने की सारी सम्भावना ।] सङ्कीर्णता का अर्थ है मिश्रत्व अथवा (वाच्य व्यङ्ग्य की) चञ्चल स्थिति (अथवा अत्यन्त संश्लिष्ट स्थिति), फिर नीरक्षीर के समान उस सङ्कर में एक का प्राधान्य किस प्रकार हो सकता है।

अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्यविशेषभावान्निमित्तनिमित्तिभावाद्वा अभिधीयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धः तदाभिधीयमान-प्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम्। यदा तावत्सामान्यस्याप्रस्तुतस्याभिधीयमानस्य

लोचन

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसा सा त्रिविधा परिकीर्त्तिता॥

अप्रस्तुतस्य वर्णनं प्रस्तुताक्षेपिण इत्यर्थः। स चाक्षेपस्त्रिविधो भवति— सामान्यविशेषभावात्, निमित्तनिमित्तिभावात्, सारूप्याच्च। तत्र प्रथमे प्रकारद्वये प्रस्तुताप्रस्तुतयोस्तुल्यमेव प्राधान्यमिति प्रतिज्ञां करोति—अप्रस्तुतेत्यादिना प्राधान्य-मित्यन्तेन। तत्र सामान्यविशेषभावेऽपि द्वयी गतिः सामान्यमप्राकरणिकं शब्देनोच्यते, गम्यते तु प्राकरणिको विशेषः स एकः प्रकारः। यथा—

अहो संसारनैर्घृण्यमहो दौरात्म्यमापदाम्।
अहो निसर्गजिह्मस्य दुरन्ता गतयो विधेः॥

अत्र हि दैवप्राधान्यं सर्वत्र सामान्यरूपमप्रस्तुतं वर्णितं सत्प्रकृते वस्तुनि क्वापि विनष्टे विशेषात्मनि पर्यवस्यति। तत्रापि विशेषांशस्य सामान्येन व्याप्तत्वाद्व्यङ्ग्य-

रश्मि

(भामह के अनुसार अप्रस्तुतप्रशंसा की परिभाषा यह है—) "प्रस्ताव अथवा प्रसङ्ग से अलग की वस्तु का जो वर्णन किया जाता है, वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा नामक अलङ्कार होता है। यह तीन प्रकार का होता है।"

अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा प्रस्तुत का आक्षेप (व्यङ्ग्य) किया जाता है— यह तात्पर्य है। यह आक्षेप तीन प्रकार का होता है—(वाच्य और व्यङ्ग्य में) सामान्यविशेष-सम्बन्ध से, कारणकार्य-सम्बन्ध से, तथा सादृश्य-सम्बन्ध से। इनमें प्रथम दो भेदों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का सम प्राधान्य होता है, यही वृत्तिकार 'अप्रस्तुत···' इत्यादि से लेकर 'प्राधान्यम्' तक कहते हैं। सामान्यविशेष सम्बन्ध में भी दो प्रकार होते हैं—एक प्रकार तो वह होता है जब सामान्य अप्रस्तुत होता है और शब्दों द्वारा (वाच्य रूप से) कहा जाता है, तथा उससे प्रस्तुत विशेष का आक्षेप (व्यङ्ग्य) होता है। यथा:—

"ओह, संसार कैसा निर्दय है! ओह, विपत्तियाँ कैसी दुष्ट होती हैं! हाय! स्वभाव से ही कुटिल विधि की गति कैसी दुःखान्त होती है!"

यहाँ "सर्वत्र दैव का ही प्राधान्य है"—यह अप्रस्तुत सामान्य शब्द-प्रतिपाद्य बनकर विनष्ट हुए किसी प्रस्तुत वस्तु-विशेष में पर्यवसान करता है (अर्थात् उसका आक्षेप करता है)। परन्तु यहाँ विशेष (रूप व्यङ्ग्य-भाग) सामान्य (रूप वाच्य)

प्राकरणिकेन विशेषेण प्रतीयमानेन सम्बन्धस्तदा विशेषप्रतीतौ सत्यामपि प्राधान्येन तत्सामान्येनाविनाभावात्सामान्यस्यापि प्राधान्यम्। यदापि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं तदापि सामान्यस्य प्राधान्ये सामान्ये सर्वविशेषाणामन्तर्भावाद्विशेषस्यापि प्राधान्यम्। निमित्तनिमित्तिभावे चायमेव न्यायः। यदा तु

लोचन

विशेषवद्वाच्यसामान्यस्यापि प्राधान्यम्, न हि सामान्यविशेषयोर्युगपत्प्राधान्यं विरुध्यते। यदा तु विशेषोऽप्राकरणिकः प्राकरणिकं सामान्यमाक्षिपति तदा द्वितीयः प्रकारः। यथा—

एतत्तस्य मुखात्कियत्कमलिनीपत्रे कणं पाथसो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनै-
स्तत्रोड्डीय गतो हहेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा॥

अत्रास्थाने महत्त्वसम्भावनं सामान्यं प्रस्तुतम्, अप्रस्तुतं तु जलबिन्दौ मणित्वसम्भावनं विशेषरूपं वाच्यम्। तत्रापि सामान्यविशेषयोर्युगपत्प्राधान्ये न विरोध इत्युक्तम्। एवमेकः प्रकारो द्विभेदोऽपि विचारितः, यदा तावदित्यादिना विशेषस्यापि प्राधान्यमि-

रश्मि

से व्याप्त है (क्योंकि सर्वत्र विशेष व्याप्य होता है और सामान्य व्यापक)। अतः जिस प्रकार व्यङ्ग्य-रूप विशेष की प्रधानता है उसी प्रकार वाच्य-रूप सामान्य की। और सामान्यविशेष दोनों की एक साथ प्रधानता कुछ भी विरुद्ध नहीं हो सकती।

जहाँ विशेष अप्रस्तुत (रूप से वाच्य) होकर प्रस्तुत सामान्य का आक्षेप (व्यङ्ग्य) करता है—वहाँ (सामान्यविशेषभाव का) द्वितीय प्रकार होता है। यथा :—

"उस मूर्ख ने कमलिनी के पत्र पर पड़े पानी के कण को मुक्तामणि समझ लिया—इतना ही उसके लिए कौन बड़ी बात है ? इससे भी आगे की सुनो ! वह जब अपनी उस मुक्तामणि को धीरे से उठाने लगा तो उँगली के अग्रभाग के स्पर्श से ही उसके कहीं विलुप्त हो जाने पर, न जाने मेरी मुक्तामणि उड़कर कहाँ चली गयी इस सोच में उसको दिनोंदिन नींद नहीं आती है।"

यहाँ पर 'अनुचित स्थान में महत्त्व की सम्भावना रूप' प्रस्तुत सामान्य रूप व्यङ्ग्य है, तथा 'जलबिन्दु में मुक्तामणित्व सम्भावनरूप' अप्रस्तुत विशेषरूप वाच्य है। ऐसे स्थल पर भी सामान्य और विशेष का एक ही साथ प्राधान्य होने में विरोध नहीं होगा—(क्योंकि सामान्यविशेष का व्यापकव्याप्य सम्बन्ध रहता है) यह कह ही चुके हैं। इस प्रकार वृत्तिकार ने 'यदा तावत्' इत्यादि से लेकर 'विशेष-

लोचन

त्यन्तेन। एतमेव न्यायं निमित्तनैमित्तिकभावेऽतिदिशंस्तस्यापि द्विप्रकारतां दर्शयति— निमित्ते ति। कदाचिन्निमित्तमप्रस्तुतं सदभिधीयमानं नैमित्तिकं प्रस्तुतमाक्षिपति। यथा—

ये यान्त्यभ्युदये प्रीतिं नोज्झन्ति व्यसनेषु च।
ते बान्धवास्ते सुहृदो लोकः स्वार्थपरोऽपरः॥

अत्राप्रस्तुतं सुहृद्बान्धवरूपत्वं निमित्तं सज्जनासक्त्या वर्णयति नैमित्तिकीं श्रद्धेयवचनतां प्रस्तुतामात्मनोऽभिव्यङ्क्तुम्; तत्र नैमित्तिकप्रतीतावपि निमित्तप्रतीतिरेव प्रधानीभवत्यनुप्राणकत्वेनेति व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः प्राधान्यम्। कदाचित्तु नैमित्तिकमप्रस्तुतं वर्ण्यमानं सत्प्रस्तुतं निमित्तं व्यनक्ति। यथा सेतौ—

सग्गं अपारिजाअं कोत्थुहलच्छिरहिअं महुमहस्स उरम्।
सुमरामि महणपुरओ अमुद्धअन्दं च हरजडापब्भारम्॥

रश्मि

स्यापि प्राधान्यम्' तक में एक प्रकार के दोनों भेदों का विचार किया है। यही सिद्धान्त निमित्तनैमित्तिक (कारणकार्य) सम्बन्ध में भी लागू करते हुए उसके भी दो भेद दिखाते हैं। इसी को 'निमित्तनिमित्तिभावे' इत्यादि के द्वारा कहते हैं। कभी अप्रस्तुतरूप कारण वाच्य होकर प्रस्तुतरूप कार्य का आक्षेप (व्यङ्ग्य) करता है। यथा :—

"जो व्यक्ति अभ्युदय में प्रसन्न होते हैं, तथा विपत्काल में साथ नहीं छोड़ते— वे ही बान्धव हैं, वे ही सुहृद् हैं, अन्य सब लोग स्वार्थी होते हैं।"

यहाँ अप्रस्तुत सुहृद्बान्धवरूपता कारणरूप से सत्पुरुष सम्बन्ध में वाच्य रूप से कही गई है, और उसके द्वारा कार्यरूप प्रस्तुत अपनी श्रद्धेयवचनता को व्यक्त करता है। यहाँ पर कार्यरूप व्यङ्ग्य की प्रतीति होने पर भी, कारणरूप वाच्य ही प्रधान है, क्योंकि वही व्यङ्ग्य-अर्थ रूप कार्य का अनुप्राणक (प्रमाणित करने वाला) है (अर्थात् उसी में विशेष चमत्कार है) अतः यहाँ व्यङ्ग्य और व्यञ्जक का सम प्राधान्य है। कभी कार्य रूप अप्रस्तुत को वर्णित करते हुए कारण रूप प्रस्तुत का आक्षेप करते हैं।— (यही कार्यकारणभावमूलक का द्वितीय प्रकार है।) यथा सेतुबन्ध में :—

"समुद्र-मन्थन के पूर्व की बातें मुझे याद हैं—जब स्वर्ग बिना पारिजात वृक्ष के था, और विष्णु के उरःस्थल में कौस्तुभमणि तथा लक्ष्मी नहीं थीं, और शिव की जटा सुन्दर चन्द्र से शून्य थी।"

लोचन

अत्र जाम्बवान् कौस्तुभलक्ष्मीविरहितहरिवक्षःस्मरणादिकमप्रस्तुतनैमित्तिकं वर्णयति प्रस्तुतं वृद्धसेवाचिरजीवित्वव्यवहारकौशलादिनिमित्तभूतं मन्त्रितायामुपादेयमभिव्यङ्क्तुम् । तत्र निमित्तप्रतीतावपि नैमित्तिकं वाच्यभूतम्; प्रत्युत तन्निमित्तानुप्राणितत्वेनोद्धुरकन्धरीकरोत्यात्मानमिति समप्रधानतैव वाच्यव्यङ्ग्ययोः । एवं द्वौ प्रकारौ प्रत्येकं द्विविधौ विचार्य तृतीयः प्रकारः परीक्ष्यते सारूप्यलक्षणः । तत्रापि द्वौ प्रकारौ--अप्रस्तुतात्कदाचिद्वाच्याच्चमत्कारः, व्यङ्ग्यं तु तन्मुखप्रेक्षम् । यथास्मदुपाध्यायभट्टेन्दुराजस्य—

प्राणा येन समर्पितास्तव बलाद्येन त्वमुत्थापितः
स्कन्धे यस्य चिरं स्थितोऽसि विदधे यस्ते सपर्यामपि ।
तस्यास्य स्मितमात्रकेण जनयन् प्राणापहारक्रियां
भ्रातः प्रत्युपकारिणां धुरि परं वेताल लीलायसे ॥

रश्मि

यहाँ पर जाम्बवान् कौस्तुभ और लक्ष्मी से रहित हरि के वक्षस्थल आदि के स्मरणरूप अप्रस्तुत कार्य (नैमित्तिक) का वर्णन करते हैं । और उससे अपनी वृद्धसेविता, चिरञ्जीविता,व्यवहारकुशलतादि (जो श्लोकोक्त स्मरण कार्य के) निमित्तभूत हैं तथा जो उनके मन्त्री होने में उपयोगी हैं (उन) प्रस्तुत को सूचित (व्यक्त) करना उनका अभिप्राय है । यहाँ निमित्त की (व्यङ्ग्य रूप से) प्रतीति होने पर भी नैमित्तिक (कार्य) वाच्य-रूप है । प्रत्युत उस व्यङ्ग्य से अनुप्राणित होने के कारण ही वाच्य भी अपनी गर्दन उठाता है (अर्थात् व्यङ्ग्य स्वयं तो प्रधान था ही, वाच्य को भी सुन्दर बना रहा है ।) इस प्रकार वाच्य और व्यङ्ग्य की समान रूप से प्रधानता है । इस तरह से अप्रस्तुतप्रशंसा के दोनों प्रकारों का, प्रत्येक का अपने दो दो प्रभेदों सहित,विचार कर अब सारूप्यलक्षण तृतीय प्रकार की परीक्षा करते हैं । इसके भी दो प्रकार होते हैं—कभी अप्रस्तुत वाच्य से चमत्कार होता है, और व्यङ्ग्य वाच्य का मुखापेक्षी होता है । उदाहरणार्थ हमारे गुरु भट्टेन्दुराज का यह श्लोक है :—

*हे वेताल, मन्त्रबल से जिसने तुम्हें प्राण-दान दिया, जिसने तुम्हें उठाया,

---

* तन्त्र- साधना में वेतालसिद्धि का विधान है । मनुष्य के शव में उसका आह्वान किया जाता है और उससे शव उठकर खड़ा हो जाता है, उसी को वेताल कहते हैं । किन्तु यदि साधक भीरु स्वभाव का हुआ तो वेताल के खड़े होते ही तथा उसको हँसते हुए देखकर ही उस (साधक) के प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं ।—जैसा कि 'मालतीमाधव' में भवभूति ने कहा है कि "नाहमात्मविनाशाय वेतालोत्थापनं करिष्यामि ।"—५।२३

सारूप्यमात्रवशेनाप्रस्तुतप्रशंसायामप्रकृतप्रकृतयोः सम्बन्धस्तदाप्यप्रस्तुतस्य

लोचन

अत्र यद्यपि सारूप्यवशेन कृतघ्नः कश्चिदन्यः प्रस्तुत आक्षिप्यते, तथाप्यप्रस्तुतस्यैव वेतालवृत्तान्तस्य चमत्कारकारित्वम् । न ह्यचेतनोपालम्भवदसम्भाव्यमानोऽयमर्थो, न च न हृद्य इति वाच्यस्यात्र प्रधानता । यदि पुनरचेतनादिनात्यन्तासम्भाव्यमानतदर्थविशेषणेनाप्रस्तुतेन वर्णितेन प्रस्तुतमाक्षिप्यमाणं चमत्कारकारि तदा वस्तुध्वनिरसौ । यथा ममैव—

भावव्रात हठाज्जनस्य हृदयान्याक्रम्य यन्नर्तयन्
भङ्गीभिर्विविधाभिरात्महृदयं प्रच्छाद्य संक्रीडसे ।
स त्वामाह जडं ततः सहृदयम्मन्यत्वदुःशिक्षितो
मन्येऽमुष्य जडात्मता स्तुतिपदं त्वत्साम्यसम्भावनात् ॥

रश्मि

जिसके कन्धे पर अधिक काल तक तुम स्थित रहे, और जिसने तुम्हारी पूजा भी की, उसी के प्राणों का विनाश अपनी मुसकान-मात्र से करते हुए तुमने प्रत्युपकारियों में अपने को अग्रेसर सुशोभित किया।"

यहाँ यद्यपि सादृश्य के द्वारा प्रस्तुत किसी अन्य कृतघ्न पुरुष का आक्षेप (व्यञ्जन) हो रहा है, तथापि यहाँ अप्रस्तुत वाच्यरूप वेतालवृत्तान्त में ही चमत्कार है। क्योंकि अचेतन को उपालम्भ देने की भाँति यह अर्थ असम्भाव्यमान नहीं है (अर्थात् वेताल एक सत्य चेतन वस्तु है अतः वाच्यार्थ सम्भव है), और वह भी नहीं है कि वह वाच्य मनोरम न हो, इस प्रकार यहाँ वाच्य की ही प्रधानता है। अचेतन के प्रति यह उक्ति मानने पर उसके सम्पूर्ण विशेषण असम्भव हो जाएँगे, और इस प्रकार अचेतन रूप अप्रस्तुत के वर्णन की अपेक्षा आक्षिप्यमाण प्रस्तुत के अधिक चमत्कारी होने से यह वस्तुध्वनि का उदाहरण हो जाएगा (क्योंकि तब व्यङ्ग्य अर्थ अधिक मनोरम होगा)। यथा मेरा ही यह श्लोक—

"हे भावव्रात (चन्द्रादि) पदार्थगण, तुम विविध प्रकारों से अपने आन्तरिक हृदय (रहस्य) को छिपाकर और लोगों के हृदयों को हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर, स्वेच्छापूर्वक नचाते (हर्षित करते) हुए जो क्रीडा करते हो, उसी से सहृदयम्मन्यत्व की भावना से दुःशिक्षित अपने को सहृदय होने का मिथ्याभिमान करने वाले लोग तुमको जड़ कहते हैं। (वस्तुतः वे स्वयं जड़ हैं।) परन्तु उनको जड़ कहना भी तुम्हारी समानता का सम्पादक होने से उनके लिए स्तुति-रूप ही है, यह प्रतीत होता है।"

सरूपस्याभिधीयमानस्य प्राधान्येनाविवक्षायां ध्वनावेवान्तःपातः। इतरथा त्वलङ्कारान्तरमेव।

लोचन

कश्चिन्महापुरुषो वीतरागोऽपि सरागवदिति न्यायेन गाढविवेकालोकतिरस्कृततिमिरप्रतानोऽपि लोकमध्ये स्वात्मानं प्रच्छादयँल्लोकं च वाचालयन्नात्मन्यप्रतिभासमेवाङ्गीकुर्वंस्तेनैव लोकेन मूर्खोऽयमिति यदवज्ञायते तदा तदीयं लोकोत्तरं चरितं प्रस्तुतं व्यङ्ग्यतया प्राधान्येन प्रकाश्यते। जडोऽयमिति ह्युद्यानेन्दूदयादिर्भावो लोकेनावज्ञायते, स च प्रत्युत कस्यचिद्विरहिण औत्सुक्यचिन्तादूयमानमानसतामन्यस्य प्रहर्षपरवशतां करोतीति हठादेव लोकं यथेच्छं विकारकारणाभिर्नर्तयति। न च तस्य हृदयं केनापि ज्ञायते कीदृगयमिति, प्रत्युत महागम्भीरोऽतिविदग्धः सुष्ठुगर्वहीनोऽतिशयेन क्रीडाचतुरः स यदि लोकेन जड इति तत एव कारणात्प्रत्युत वैदग्ध्यसम्भावननिमित्तात्सम्भावितः, आत्मा च यत एव कारणात्प्रत्युत जाड्येन सम्भाव्यस्तत एव सहृदयः सम्भावितस्तदस्य लोकस्य जडोऽसीति यदुच्यते तदा जाड्यमेवंविधस्य भावव्रातस्यातिविदग्धस्य प्रसिद्धमिति सा प्रत्युत स्तुतिरिति। जडादपि पापीयानयं लोक इति

रश्मि

'वीतराग होते हुए भी रागी के समान रहे'—इस नीति से, कोई महापुरुष अत्यन्त विवेक के प्रकाश से नष्ट अज्ञानान्धकार वाला होते हुए भी लोगों के बीच अपने वीतरागी स्वरूप को छिपाता हुआ, तथा अपने विषय में लोगों को (तरह तरह के प्रवाद के लिए) वाचाल बनाता हुआ, अपने प्रति उन्हीं लोगों द्वारा आरोपित मूर्खता स्वीकार करता हुआ, उन्हीं लोगों द्वारा 'यह मूर्ख है' जो इस प्रकार अपमानित किया जाता है, उस समय इस प्रकार उसका प्रस्तुत-रूप लोकोत्तर चरित्र व्यङ्ग्य-रूप में प्रधानतया प्रतीत हो रहा है। उद्यान, चन्द्रोदय आदि पदार्थ लोगों द्वारा 'ये जड़ वस्तुयें हैं' इस रूप से अनादृत किए जाते हैं, परन्तु वे ही किसी विरही को उत्सुक और चिन्ता से बेचैन मन वाला तथा दूसरे (संयुक्त) को हर्षयुक्त बना देते हैं, और इस प्रकार हठात् ही लोगों को स्वेच्छापूर्वक मानसिक विकारों की प्रवर्त्तना द्वारा नचाते रहते हैं। उन (उद्यानादि पदार्थगण) का हृदय कैसा है यह कोई भी नहीं जानता। प्रत्युत महागम्भीर, अतिचतुर, सुन्दर, गर्वरहित, क्रीडाचतुर वह जिस कारण से लोगों द्वारा 'विदग्ध' कहा जाना चाहिए, उसी कारण से 'मूर्ख' कहा जाता है, तथा वे लोग अपने को, जिस कारण से जड़ कहना चाहिए, उसी कारण से सहृदय कहते हैं—ऐसे लोगों को 'तुम जड़ हो' जो यह कहा जाता है, वह ('जड़' यह विशेषण) इस प्रकार के अतिविदग्ध भावव्रात के लिए प्रसिद्ध होने के कारण, उन सहृदयम्मन्य लोगों के लिए प्रत्युत स्तुति ही है। ध्वनि यह है कि जड़ से भी अधिक पापी ये लोग हैं।

तदयमत्र संक्षेप :—

व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः ॥

लोचन

ध्वन्यते । तदाह—यदा त्विति । इतरथा त्विति । इतरथैव पुनरलङ्कारान्तरत्वमलङ्कारविशेषत्वं न व्यङ्ग्यस्य कथञ्चिदपि प्राधान्यं इति भावः । उद्देशे यदादिग्रहणं कृतं समासोक्तीत्यत्र द्वन्द्वे तेन व्याजस्तुतिप्रभृतिरलङ्कारवर्गोऽपि सम्भाव्यमानव्यङ्ग्यानुवेशः सम्भावितः ।

तत्र सर्वत्र साधारणमुत्तरं दातुमुपक्रमते—तदयमत्रेति । कियद्वा प्रतिपदं लिख्यतामिति भावः । तत्र व्याजस्तुतिर्यथा—

किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किन्तु नाहं समर्थ-
स्तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभावः ।
गेहे गेहे विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठ्या-
मुन्मत्तेव भ्रमति भवतो वल्लभा हन्त कीर्तिः ॥

रश्मि

इसीलिए वृत्तिकार ने 'यदा तु' इत्यादि कहा है । अन्यथा (अर्थात् जब अभिधीयमान की प्राधान्य विवक्षा रहेगी तो अप्रस्तुतप्रशंसा नामक एक) विशिष्ट अलङ्कार होगा अर्थात् उसमें व्यङ्ग्य का कुछ भी प्राधान्य न होगा । पहले वृत्ति में (व्यङ्ग्यार्थसंवलित अलङ्कारों का नाम गिनाते समय) जो समासोक्ति आदि कुछ अलङ्कारों के द्वन्द्व समास द्वारा नाम गिनाए हैं उनमें 'आदि' के प्रयोग से उन व्याजस्तुति आदि अलङ्कारों का भी ग्रहण सम्भव हो जाता है जिनमें व्यङ्ग्यार्थ का अनुप्रवेश सम्भव है ।

अब सभी ऐसे अलङ्कारों के प्रति एक सामान्य उत्तर देते हुए वृत्तिकार 'तदयमत्र संक्षेपः' इत्यादि कहना प्रारम्भ करते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के प्रत्येक पद पर अलग-अलग कितना लिखें । उनमें व्याजस्तुति* का उदाहरण है :—

"दूसरे के घर में होने वाली बातों से हमें क्या प्रयोजन ? किन्तु मैं चुप नहीं रह सकता । क्योंकि दाक्षिणात्य लोग स्वभाव से ही मुखर होते हैं । हे राजन् ,खेद है कि घर घर में, बाजारों में चौराहों पर और पानगोष्ठियों (हौली) में, आपकी वल्लभा कीर्ति उन्मत्ता की भाँति घूमती है । "

---

*व्याजस्तुति नाम से ही उस अलङ्कार का लक्षण स्फुट हो जाता है अतः लोचनकार ने उसका लक्षण न उद्धृत किया—वैसे साहित्यदर्पण के अनुसार उसका लक्षण इस प्रकार है—'उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः । निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः ।

लोचन

अत्र व्यङ्ग्यं स्तुत्यात्मकं यत्तेन वाच्यमेवोपस्क्रियते। यत्तूदाहृतं केनचित्—

आसीन्नाथ पितामही तव मही जाता ततोऽनन्तरं
माता सम्प्रति साम्बुराशिरशना जाया कुलोद्भूतये।
पूर्णे वर्षशते भविष्यति पुनः सैवानवद्या स्नुषा
युक्तं नाम समग्रनीतिविदुषां किं भूपतीनां कुले ॥

इति, तदस्माकं ग्राम्यं प्रतिभात्यत्यन्तासभ्यस्मृतिहेतुत्वात्। का चानेन स्तुतिः कृता? त्वं वंशक्रमेण राजेति हि कियदिदम्? इत्येवंप्राया व्याजस्तुतिः सहृदयगोष्ठीषु निन्दितेत्युपेक्ष्यैव।

यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबन्धस्तु हेतुना येन।
गमयति तमभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ॥इति॥

अत्रापि वाच्यप्राधान्ये भावालङ्कारता। यस्य चित्तवृत्तिविशेषस्य सम्बन्धी वाग्व्यापारादिर्विकारोऽप्रतिबन्धोऽनियतः प्रभवंस्तं चित्तवृत्तिविशेषरूपमभिप्रायं येन हेतुना

रश्मि

यहाँ जो राजा की प्रशंसा रूप व्यङ्ग्य निकल रहा है, उसके द्वारा स्वयं वाच्य ही अलङ्कृत हो रहा है। किन्तु किसी ने जो यह उदाहरण दिया कि—

"हे नाथ, यह पृथ्वी पहले तुम्हारी पितामही (दादी) थी, तदनन्तर वह तुम्हारी माता हुई, और समुद्रपरिवेष्टित वही पृथ्वी तुम्हारे कुल की वृद्धि के लिए, इस समय तुम्हारी पत्नी है। पूरे सौ वर्ष बीत जाने पर फिर वही तुम्हारी पुत्रवधू हो जायगी। समस्त नीति के ज्ञाता राजाओं के कुल में न जाने क्या उचित होता है?"

यह (श्लोक) हमें ग्राम्य लगता है, क्योंकि यह (दादी का माँ, पत्नी और पुत्र-वधू बनना इस) अत्यन्त असभ्य बात का स्मरण दिलाता है। और फिर इससे स्तुति भी क्या की गई? (यही कि 'तुम वंशक्रम से राजा हो'?)। केवल इतना ही कहने में क्या बड़ी बात हुई? इस प्रकार की व्याजस्तुति सहृदय-वर्ग में निन्दित है, अतः यह उपेक्षणीय है।

(अब रुद्रट के अनुसार भाव अलङ्कार की परिभाषा करते हैं :—)यहाँ भी वाच्य की प्रधानता होने पर ही भाव की अलङ्कारता होती है। "जिस चित्तवृत्तिविशेष से सम्बद्ध शब्दप्रयोग आदि विकार (अर्थात् शब्दादि रूप का उसका व्यक्तीकरण) अप्रतिबन्ध अर्थात् बेरोक उद्दीप्त होता हुआ जिस हेतु से उस चित्तवृत्तिविशेष रूप

व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ॥

लोचन

गमयति स हेतुर्यथेष्टोपभोग्यत्वादिलक्षणोऽर्थो भावालङ्कारः। यथा—

"एकाकिनी यदबला तरुणी तथाहमस्मिन्गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
कं याचसे तदिह वासमियं वराकी श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ ॥"

अत्र व्यङ्ग्यमेकैकत्र पदार्थे उपस्कारकारीति वाच्यं प्रधानम्। व्यङ्ग्यप्राधान्ये तु न काचिदलङ्कारतेति निरूपितमित्यलं बहुना।

यत्रेति काव्ये। अलङ्कृतय इति। अलङ्कृतित्वादेव च वाच्योपस्कारकत्वम्। प्रतिभामात्र इति। यत्रोपमादौ श्लिष्टार्थप्रतीतिः। वाच्यार्थानुगम इति। वाच्येनार्थेनानुगमः समं प्राधान्यमप्रस्तुतप्रशंसायामिवेत्यर्थः। न प्रतीयत इति। स्फुटतया प्राधान्यं न चकास्ति, अपि तु बलात्कल्प्यते, तथापि हृदये नानुप्रविशति। यथा—'दे आ

रश्मि

अभिप्राय को (व्यङ्ग्य रूप से) प्रकट करे—वह, जैसे आगे के उदाहरण में यथेष्टोपभोग्यता रूप हेतु, भाव अलङ्कार होता है।" जैसे—

"मैं एकाकिनी अबला तरुणी हूँ, और इस घर का स्वामी विदेश गया हुआ है। अतः हे पान्थ, तुम किससे वासस्थान की याचना कर रहे हो ? मेरी सास भी तो बेचारी अन्धी और बहरी है। क्या तुम निरे बुद्धू ही हो ?"

यहाँ प्रत्येक पद में व्यङ्ग्य, वाच्य को अलङ्कृत कर रहा है, अतः वाच्य की ही प्रधानता है। व्यङ्ग्य के प्रधान होने पर तो अलङ्कारता ही समाप्त हो जाएगी—यह कह चुके हैं। अतः अब इस विषय में विस्तार से क्या लाभ ?

(प्रथम परिकर श्लोक में) 'यत्र' अर्थात् काव्य में। अलङ्कृतय इति। 'अलङ्कृति' पद के द्वारा ही वाच्यार्थ का उपस्कारकत्व बोधित होता है। प्रतिभामात्र इति अर्थात् जहाँ उपमा आदि में व्यङ्ग्यार्थ की अस्पष्ट प्रतीति होती है।*

'वाच्यार्थानुगम' अर्थात् जहाँ वाच्य अर्थ व्यङ्ग्य अर्थ का अनुकरण कर रहा हो, दूसरे शब्दों में जहाँ वाच्य और व्यङ्ग्य का समप्राधान्य हो, जैसे अप्रस्तुतप्रशंसा में। 'न प्रतीयते' अर्थात्-जहाँ व्यङ्ग्य का स्पष्ट रूप से प्राधान्य नहीं प्रतीत होता है, अपितु बलात् उसकी कल्पना की जाती है, फिर भी वह हृदय में प्रवेश नहीं पाता।

---

*द्वितीय उद्योत में कारिकाकार ने कहा भी है—

यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रश्लिष्टत्वेन भासते।
वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः ॥२।२१॥

तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः ॥

तस्मान्न ध्वनेरन्यत्रान्तर्भावः ।

इतश्च नान्तर्भावः; यतः काव्यविशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः । तस्य पुनरङ्गानि—अलङ्कारा गुणा वृत्तयश्चेति प्रतिपादयिष्यन्ते । न चावयव एव

लोचन

पसिअणिआतासु' इत्यत्रान्यकृतासु व्याख्यासु । तेन चतुर्षु प्रकारेषु न ध्वनिव्यवहारः सद्भावेऽपि व्यङ्ग्यस्य अप्राधान्ये क्लिष्टप्रतीतौ वाच्येन समप्राधान्येऽस्फुटे प्राधान्ये च । क्व तर्ह्यसावित्याह—तत्परावेवेति । सङ्करेणालङ्कारानुप्रवेशसम्भावनया उज्झित इत्यर्थः । सङ्करालङ्कारेणेति त्वसत्, अन्यालङ्कारोपलक्षणत्वे हि क्लिष्टं स्यात् ।

इतश्चेति । न केवलमन्योन्यविरुद्धवाच्यवाचकभावव्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसमाश्रयत्वान्न तादात्म्यमलङ्काराणां ध्वनेश्च यावत्स्वामिभृत्यवदङ्गिरूपाङ्गरूपयोर्विरोधादित्यर्थः । अवयव

रश्मि

यथा—'दे आ पसिअ' इत्यादि पूर्वोदाहृत श्लोक की दूसरों द्वारा की गई प्रथम दो जैसी व्याख्याओं में । अतः व्यङ्ग्य का अप्राधान्य होने पर, उसकी क्षीण प्रतीति होने पर, वाच्य के साथ उसका समप्राधान्य होने पर,अथवा उसका अस्फुट प्राधान्य होने पर—इन चारों ही अवस्थाओं में ध्वनि व्यवहार नहीं होता, यद्यपि इन सभी में व्यङ्ग्य का सद्भाव अवश्य रहता है । तब प्रश्न उठता है कि यह ध्वनि कहाँ होती है ? इसी का उत्तर देते हुए कहते हैं—तत्परावेवेति । 'सङ्कर' की व्याख्या करते हुये कहते हैं—'सङ्कर अर्थात् जहाँ अन्य अलङ्कार के प्रवेश की सम्भावना न हो । यहाँ 'सङ्कर' का अर्थ 'सङ्करालङ्कार' मानना गलत है, क्योंकि ऐसा करने पर (केवल सङ्कर अलङ्कार में ही ध्वनित्व का निराकरण होगा, अन्य समासोक्ति आदि का उससे ग्रहण न हो पायेगा) उस (सङ्कर) को अन्य अलङ्कारों का उपलक्षण मानने में क्लिष्ट कल्पना होगी ।

अलङ्कारों और ध्वनि में तादात्म्य का अभाव (भेद) केवल इसी कारण नहीं है कि एक वाच्य और वाचक पर समाश्रित है, और दूसरा व्यङ्ग्य और व्यञ्जक पर, अर्थात् दोनों परस्पर विरुद्ध आश्रय वाले हैं, वरन् इसलिए भी कि उनमें भृत्य और स्वामी के सदृश अङ्गाङ्गिभाव है । अवयव अर्थात् प्रत्येक अवयव ही अवयवी नहीं होता (क्योंकि 'ध्वनि' नामक काव्यविशेष के गुण, अलङ्कार, वृत्तियाँ, व्यङ्ग्य अर्थ आदि सभी अवयव मात्र ही तो हैं—हाँ, कोई प्रधान है, कोई गौण ।) इसलिए कहा

पृथग्भूतोऽवयवीतिप्रसिद्धः। अपृथग्भावे तु तदङ्गत्वं तस्य। न तु तत्त्वमेव। यत्रापि वा तत्त्वं तत्रापि ध्वनेर्महाविषयत्वान्न तन्निष्ठत्वमेव।

लोचन

इति। एकैक इत्यर्थः। तदाह—पृथग्भूत इति। अथ पृथग्भूतस्तथा मा भूत्, समुदायमध्यनिपतितस्तर्हि स्तु तथेत्याशङ्क्याह—अपृथग्भावे त्विति। तदापि न स एक एव समुदायः, अन्येषामपि समुदायिनां तत्र भावात्; तत्समुदायिमध्ये च प्रतीयमानमप्यस्ति, न च तदलङ्काररूपं, प्रधानत्वादेव। यस्त्वलङ्काररूपं तदप्रधानत्वान्न ध्वनिः। तदाह—न तु तत्त्वमेवेति। नन्वलङ्कार एव कश्चित्त्वया प्रधानताभिषेकं दत्त्वा ध्वनिरित्यात्मेति चोक्त इत्याशङ्क्याह—यत्रापि वेति। न हि समासोक्त्यादीनामन्यतम एवासौ तथास्माभिः कृतः, तद्विविक्तत्वेऽपि तस्य भावात्, समासोक्त्याद्यलङ्कारस्वरूपस्य समस्तस्याभावेऽपि तस्य दर्शितत्वात् 'अत्ता एत्थ' इति 'कस्स वा ण' इत्यादि; तदाह—न तन्निष्ठत्वमेवेति।

रश्मि

है—पृथग्भूत इत्यादि। अच्छा अलग अलग अवयव, अवयवी न हों, परन्तु समुदाय रूप में होकर तो वे अवयव (रूप अलङ्कार आदि) भी अवयवी अर्थात् अङ्गी (ध्वनि) हो सकते हैं—ऐसी शङ्का करके कहते हैं—अपृथग्भावे त्विति। समुदाय के मध्य में होने पर तो वह अकेला समुदायिरूप अवयव ही समुदायरूप अवयवी नहीं हो जाता, क्योंकि वहाँ पर अन्य भी समुदायी विद्यमान रहते हैं; और उन समुदायियों में प्रतीयमान भी रहता है, जो प्रधान होने के कारण, अलङ्कार रूप नहीं होता (अपितु स्वयं अलङ्कार्य अङ्गी रूप से होता है।) और जो अलङ्कार रूप में होता है, वह अप्रधान होने के कारण 'ध्वनि' नहीं होता। इसीलिए कहा है—न तु तत्त्वमेवेति। अब यह शङ्का उठाकर कि 'किसी अलङ्कार को ही तुमने प्रधानता देकर ध्वनि और आत्मा कहा है,' समाधान करते हैं—यत्रापि वा इत्यादि। हमने समासोक्ति आदि अलङ्कारों में ही किसी एक को ध्वनि और आत्मा रूप नहीं कहा है, क्योंकि इनसे पृथक् भी ध्वनि का सद्भाव होता है। समासोक्ति आदि अलङ्कारों के राहित्य में भी ध्वनि का दर्शन होता है जैसे, 'अत्ता एत्थ' और 'कस्स वा ण' इत्यादि में। इसीलिए कहा है—न तन्निष्ठत्वमेवेति।

'सूरिभिः कथित' इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः; न तु यथाकथञ्चित्प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते। प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात्सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः

लोचन

विद्वदुपज्ञेति। विद्वद्भ्य उपज्ञा प्रथम उपक्रमो यस्या उक्तेरिति बहुव्रीहिः। तेन 'उपज्ञोपक्रमं' इति तत्पुरुषाश्रयं नपुंसकत्वं निरवकाशम्। श्रूयमाणेष्विति। श्रोत्रशष्कुलीं सन्तानेनागता अन्त्याः शब्दाः श्रूयन्त इति प्रक्रियायां शब्दजाः शब्दाः श्रूयमाणा इत्युक्तम्। तेषां घण्टानुरणनरूपत्वं तावदस्ति; ते च ध्वनिशब्देनोक्ताः। यथाह भगवान् भर्तृहरिः —

यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजाश्शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः॥ इति॥

एवं घण्टादिनिर्ह्लादस्थानीयोऽनुरणनात्मोपलक्षितो व्यङ्ग्योऽप्यर्थो ध्वनिरिति

रश्मि

'विद्वदुपज्ञा' (शब्द के प्रयोग के औचित्य सम्पादनार्थ कहते हैं कि इसमें बहुव्रीहि समास ही करना चाहिए)—विद्वद्भ्यः उपज्ञा * प्रथम उपक्रमः (प्रवृत्तिः) ज्ञानं वा यस्या उक्तेः सा। इस प्रकार का बहुव्रीहि करने से ही तत्पुरुषसमासाश्रित 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्' सूत्र से नपुंसकत्व का अवकाश नहीं रहता। [अन्यथा तत्पुरुष समास करने पर तो 'विद्वदुपज्ञम्' यह नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग हो जाता।]

श्रूयमाणेष्विति। "कान में परम्परा क्रम से आए हुए (उस क्रम के) अन्तिम शब्द सुनाई पड़ते हैं"—इस प्रक्रिया के अनुसार शब्दज शब्द सुनाई पड़ते हैं—यह कहा गया है। इस प्रकार घण्टे के अनुरणन के सदृश ही वे श्रूयमाण शब्द होते हैं और उन्हीं को 'ध्वनि' कहा गया है। जैसा कि भगवान् भर्तृहरि कहते हैं :—

"जो इन्द्रियों द्वारा संयोग और वियोग की प्रक्रिया से उत्पन्न किया जाता है, उसे अन्य उत्पत्तिवादी 'स्फोट' कहते हैं, तथा शब्द से उत्पन्न शब्दों (श्रूयमाणों) को 'ध्वनि' कहते हैं।"

इस प्रकार घण्टे के निर्ह्लाद के तुल्य, अनुरणन-रूपता से उपलक्षित जो व्यङ्ग्य अर्थ है—वह भी 'ध्वनि' कहा गया है। [अब (व्यञ्जक) शब्द और (व्यञ्जक)

*पारम्पर्योपदेशे स्यादैतिह्यमितिहाव्ययम्।
उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यात् ज्ञात्वारम्भ उपक्रमः॥—अमर

लोचन

व्यवहृतः । तथा श्रूयमाणा ये वर्णा नादशब्दवाच्या अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यस्फोटाभिव्यञ्जकास्ते ध्वनिशब्देनोक्ताः । यथाह भगवान् स एव—

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥इति॥

तेन व्यञ्जकौ शब्दार्थावपीह ध्वनिशब्देनोक्तौ । किञ्च वर्णेषु तावन्मात्रपरिमाणेष्वपि सत्सु । यथोक्तम्—

अल्पीयसापि यत्नेन शब्दमुच्चारितं मतिः ।
यदि वा नैव गृह्णाति वर्णं वा सकलं स्फुटम् ॥ इति ॥

रश्मि

अर्थ के ध्वनिव्यवहार्यत्व का समर्थन करते हैं—] सुनाई पड़ने वाले जो वर्ण वैयाकरणों द्वारा 'नाद' कहे गए हैं—वे,पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृत-अन्त्यवर्णबुद्धि से ग्राह्य होने वाले स्फोट के अभिव्यञ्जक हैं, तथा वे 'ध्वनि' कहे गए हैं। जैसा कि उन्हीं भगवान् भर्तृहरि ने कहा है :—

"स्फोट के ग्रहण करने में अनुकूल (सहायक) तथा अनिर्वचनीय प्रतीतियों द्वारा जब ध्वनि से शब्द प्रकाशित हो जाता है तब स्फोट के स्वरूप का ज्ञान होता है।"*

उसी प्रकार यहाँ व्यञ्जक शब्द और व्यञ्जक अर्थ भी 'ध्वनि' कहे गए हैं।

[अब, व्यञ्जना व्यापार भी ध्वनि है, यह कहेंगे—] और फिर वर्णों के नियत परिमाण विशिष्ट होने पर भी। जैसा कि कहा है:—

"अत्यल्प प्रयत्न से भी उच्चारित शब्द को बुद्धि या तो नहीं ही सुन पाती या फिर सम्पूर्ण रूप से ग्रहण कर लेती है।"

---

*वाक्यपदीय में इसके पूर्व की कारिका में स्फोट प्रक्रिया को समझाते हुए भर्तृहरि ने श्लोक कण्ठ करने की प्रक्रिया को उदाहरण-रूप में रक्खा है:—

यथानुवाकः श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति ।
आवृत्या न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्ति निरूप्यते ॥१।८२॥

तथा बाद की कारिका में अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यक्रम का उल्लेख करते हैं—

नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह ।
आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोवधार्यते ॥१।८४॥

काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद्ध्वनिरित्युक्तः। न चैवंविधस्य ध्वनेर्वक्ष्यमाणप्रभेदतद्भेदसङ्कलनया महाविषयस्य यत्प्रकाशनं तदप्रसिद्धालङ्कारविशेषमात्रप्रतिपादनेन

लोचन

तेषु तावत्स्वेव श्रूयमाणेषु वक्तुर्योऽन्यो द्रुतविलम्बितादिवृत्तिभेदात्मा प्रसिद्धादुच्चारणव्यापारादभ्यधिकः स ध्वनिरुक्तः। यदाह स एव—

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदं तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ॥ इति ॥

अस्माभिरपि प्रसिद्धेभ्यः शब्दव्यापारेभ्योऽभिधातात्पर्यलक्षणारूपेभ्योऽतिरिक्तो व्यापारो ध्वनिरित्युक्तः। एवं चतुष्कमपि ध्वनिः। तद्योगाच्च समस्तमपि काव्यं ध्वनिः। तेन व्यतिरेकाव्यतिरेकव्यपदेशोऽपि न न युक्तः। वाच्यवाचकसम्मिश्र इति। वाच्यवाचकसहितः सम्मिश्र इति मध्यमपदलोपी समासः। 'गामश्वं पुरुषं पशुम्' इतिवत्समुच्चयोऽत्र

रश्मि

इस प्रकार उतने परिमाण में ही श्रूयमाण उन वर्णों में वक्ता का जो अन्य अर्थात् द्रुतविलम्बितादिव्यापारभेदात्मक, (उन वर्णों के) प्रसिद्ध (नियत)उच्चारणव्यापार से अधिक जो दूसरा व्यापार होता है वह ध्वनि कहा गया है। जैसा कि उन्होंने (भर्तृहरि ने) ही कहा है:—

"शब्द की अभिव्यक्ति हो जाने पर, वैकृत-ध्वनियाँ शब्द के वृत्ति (व्यापार) -भेद को उत्पन्न करती हैं। उन वैकृत ध्वनियों से (शब्द के) स्फोट-स्वरूप में अन्तर नहीं पड़ता।"*

इसी प्रकार हम साहित्यिकों ने भी अभिधा, तात्पर्य तथा लक्षणा-रूप प्रसिद्ध शब्द-व्यापारों से व्यतिरिक्त व्यापार को 'ध्वनि' कहा है। इस प्रकार पूर्वोक्त चारों ही 'ध्वनि' हुई। और उन ध्वनियों से युक्त होने पर समस्त काव्य भी ध्वनि हुआ। अतः "काव्यस्यात्मा ध्वनिः" में भेद रूप से तथा 'यत्रार्थः' वाली कारिका में 'स ध्वनिरिति' इत्यादि अभेद रूप से—ये दोनों कथन उपयुक्त हैं। वाच्यवाचकसंमिश्र इति। अर्थात् वाच्य और वाचक के सहित जो सम्मिश्र—इस प्रकार मध्यमपदलोपी समास हुआ। 'गामश्वं पुरुषं पशुम्' के समान यहाँ 'च' के बिना भी समुच्चय है। तो इस प्रकार

---

*शब्द की ध्वनियाँ भी दो प्रकार की मानी गई हैं—१—प्राकृत, २—वैकृत। प्राकृत स्वाभाविक ध्वनि है और वैकृत कृत्रिम। जैसा कि कहा है—

'शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
स्थितिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते ॥'

लोचन

चकारेण विनापि । तेन वाच्योऽपि ध्वनिः वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः, द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा । संमिश्र्यते विभावानुभावसंवलनयेति व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिः, ध्वन्यत इति कृत्वा । शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः, न चासावभिधादिरूपः, अपि त्वात्मभूतः, सोऽपि ध्वननं ध्वनिः । काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः, उक्तप्रकारध्वनिचतुष्टयमयत्वात् । अतएव साधारणहेतुमाह—व्यञ्जकत्वसाम्यादिति । व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः सर्वेषु पक्षेषु सामान्यरूपः साधारण इत्यर्थः ।

रश्मि

वाच्यार्थ भी ध्वनि है, वाचक शब्द भी ध्वनि है; क्योंकि दोनों ही व्यञ्जक हैं, अतः ध्वनति इति ध्वनिः इस प्रकार कर्ता में प्रत्यय करके वाच्यार्थ और वाचक दोनों ही ध्वनि कहलाएँगे । (वृत्ति में सम्मिश्र शब्द का अर्थ होगा) विभावानुभावों की संवलना (व्यङ्ग्यव्यञ्जकरूप संयोग) से जो युक्त (सम्मिश्र) हो इस प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ को भी ध्वनि कहेंगे, जिसे ध्वन्यते इस प्रकार कर्म में प्रत्यय करके बनाएँगे । (अब 'शब्दात्मा' पद की व्याख्या करते हैं :—) शब्दन अर्थात् शब्द-व्यापार ही शब्द है, (किन्तु वह शब्दव्यापार आत्मा रूप है साधारण शब्दव्यापार नहीं क्योंकि शब्दात्मा शब्द का प्रयोग किया है, जिसमें शब्दश्चासौ आत्मा चेति कर्मधारय समास होगा) किन्तु यह शब्दव्यापार अभिधा (लक्षणा) आदि रूप नहीं है, अपितु आत्मस्वरूप होता है, अतः वह व्यापार भी ध्वनि है । यहाँ ध्वननम् इस प्रकार भाव में प्रत्यय करेंगे । उक्त चार प्रकार की चार ध्वनियों से युक्त होने के कारण काव्य नाम वाली समुदाय रूप वस्तु भी ध्वनि ही है ।*

वृत्तिकार ने इन पाँचों को ध्वनि कहने का साधारण हेतु कहा है कि उन सबमें व्यञ्जकत्व रूप साम्य है । अर्थात् उन सब पक्षों में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सामान्यरूप से

---

*माणिक्यचन्द्र ने 'काव्यप्रकाश' की 'इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः; कथितः' इस कारिका की व्याख्या करते हुए कुछ इसी प्रकार लिखा है—"ननु ध्वन्यते द्योत्यते इति व्यङ्ग्यं, स च काव्यात्मा, तत्कथं काव्यं ध्वनिरित्याह ? आत्मात्मवतोरभेदेनोपचारात् । यदा तु ध्वनतीति ध्वनिः इति कर्तृव्युपत्तिः तदा नोपचारः। ……। यद्यपि ध्वननमिति भावव्युत्पत्त्या ध्वनिः शब्दार्थव्यापारः, ध्वन्यते इति कर्मव्युत्पत्त्या व्यङ्ग्योऽर्थः, ध्वनतीति कर्तृव्युत्पत्त्या ध्वनिः शब्दोऽर्थो वा शब्दार्थयुगलं काव्यरूपं वा तथापि कारिकायां शब्दार्थसमुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिनाम्ना प्रख्यापितः यथोक्तप्रकारध्वनिमयत्वात् ।

तुल्यमिति तद्भावितचेतसां युक्त एव संरम्भः । न च तेषु कथञ्चिदीर्ष्यया कलुषितशेमुषीकत्वमाविष्करणीयम् । तदेवं ध्वनेस्तावदभाववादिनः प्रत्युक्ताः ।

लोचन

यत्पुनरेतदुक्तं 'वाग्विकल्पानामानन्त्यात्' इत्यादि, तत्परिहरति—न चैवंविधस्येति । वक्ष्यमाणः प्रभेदो यथा—मुख्ये द्वे रूपे । तद्भेदा यथा—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य इत्यविवक्षितवाच्यस्य, असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य इति विवक्षितान्यपरवाच्यस्येति । तत्राप्यवान्तरभेदाः । महाविषयस्येति—अशेषलक्ष्यव्यापिन इत्यर्थः । विशेषग्रहणेनाव्यापकत्वमाह । मात्रशब्देनाङ्गित्वाभावम् । तत्र ध्वनिस्वरूपे भावितं प्रणिहितं चेतो येषां तेन वा चमत्काररूपेण भावितमधिवासितमत एव मुकुलितलोचनत्वादिविकारकारणं चेतो येषामिति । अभाववादिन इति । अवान्तरप्रकारत्रयभिन्ना अपीत्यर्थः ।

रश्मि

है । अब (तृतीय) अभाववादियों ने जो 'वाग्विकल्पानामानन्त्यात्' इत्यादि शङ्का की है उसका परिहार 'न चैवंविधस्य' इत्यादि के द्वारा करते हैं । ध्वनि के 'वक्ष्यमाण प्रभेद' जैसे—प्रमुख रूप से उसके दो प्रकार—(अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य ।) उनके भेद जैसे अविवक्षितवाच्य के दो भेद—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य । विवक्षिताम्यपरवाच्य के भी दो भेद—असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य । इनके भी अन्य अवान्तर-भेद । महाविषयस्येति अर्थात् वह ध्वनि समस्त काव्यों में व्याप्त है । अलङ्कार के साथ जो 'विशेष' और 'मात्र' शब्द वृत्ति में प्रयुक्त किये गए हैं उनका तात्पर्य अलङ्कार का क्रम से अव्यापकत्व और अङ्गित्वाभाव बोधन करना है । 'तद्भावितचेतसाम्' का अर्थ है— उस ध्वनिस्वरूप में जिनका चित्त भावित अर्थात् प्रणिहित अर्थात् रम गया है, अथवा, उस चमत्काररूप ध्वनि द्वारा भावित अथवा अधिवासित, अतएव नेत्र बन्द करना आदि विकार कर रहा है चित्त जिनका (ऐसे सहृदय) ।*

अभाववादिन इति अर्थात् तीनों ही अवान्तर प्रकार के अभाववादियों को प्रत्युत्तर है ।

---

*कौमुदीकार ने इसकी अत्यन्त सुन्दर शब्दों में व्याख्या की है—'सहृदयहृदयसागरसमुच्चलनशरद्राकारोहिणीसहचरसब्रह्मचारिधुरन्धरेषु सुकविनिबन्धनेषु खलु श्रूयमाणेषु तदर्थासारसुधारसास्वादमुकुलितलोचनः स्वपरसंवेदनपराङ्मुखहृदयो भवति सहृदयवर्ग इति तावदवगतमेवैतत् ; तेन तदीयविकारपरम्पराविलोकनैकप्रमाणावसेयो ध्वनिचमत्काराधिवासलाभ इत्यर्थः' ।

अस्ति ध्वनिः ।

स चासावविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन ।

लोचन

तेषां प्रत्युक्तौ फलमाह—अस्तीति ।

उदाहरणपृष्ठे भाक्तत्वं सुशङ्कं सुपरिहरं च भवतीत्यभिप्रायेणोदाहरणदानावकाशार्थं भाक्तत्वालक्षणीयत्वे प्रथमं परिहरणयोग्ये अपि अप्रतिसमाधाय भविष्यदुद्द्योतानुवादानुसारेण वृत्तिकृदेव प्रभेदनिरूपणं करोति—स चेति । पञ्चधापि ध्वनिशब्दार्थे येन यत्र यतो यस्य यस्मै इति बहुव्रीह्यर्थाश्रयेण यथोचितं सामानाधिकरण्यं सुयोज्यम् । वाच्येऽर्थे तु ध्वनौ वाच्यशब्देन स्वात्मा तेनाविवक्षितोऽप्रधानीकृतः स्वात्मा येनेत्यविवक्षितवाच्यो व्यञ्जकोऽर्थः । एवं विवक्षितान्यपरवाच्येऽपि । यदि वा कर्मधारयेणार्थपक्षे अविवक्षितश-

रश्मि

अभाववादियों को दिए गए प्रत्युत्तर का फल कहते हैं—अस्ति ध्वनिः ।

अविवक्षितवाच्यादि ध्वनि के उदाहरण प्रदर्शित करने पर ही (उनमें लक्षणा के प्रत्यक्ष समुन्मेष होने के कारण) भाक्तत्व की शङ्का और उसका परिहार सुकर हो जाएगा, इसी अभिप्राय से उदाहरण देने के अवकाश के लिए, यद्यपि भाक्तत्व और अलक्षणीयत्व का प्रथम परिहार करना चाहिए था फिर भी पहले उनका प्रतिसमाधान न करके, द्वितीय उद्योत (की कारिका) के अनुसार, वृत्तिकार ही ध्वनि के प्रभेदों का निरूपण करते हैं—स चेत्यादि । 'ध्वनि' शब्द का वाचकादि पाँचों ही प्रकार का येन, यत्र, यतो, यस्य, यस्मै इत्यादि रूप से बहुव्रीहि समास करके यथोचित रूप से अन्य पदार्थ बनाकर (अविवक्षितवाच्य एवं विवक्षितान्यपरवाच्य के साथ) समानाधिकरण करना चाहिए ।*

हाँ, वाच्यार्थ रूप को ध्वनि मानने में (अविवक्षितवाच्य पद का बहुव्रीहिपरक विग्रह करने पर) 'वाच्य' शब्द द्वारा उसका अपना स्वरूप समझना चाहिए, इस प्रकार—अविवक्षितः अप्रधानीकृतः (वाच्यः अर्थात्) स्वात्मा येन इति अविवक्षितवाच्यः अर्थात् व्यञ्जक रूप वाच्यार्थ—ऐसा वाच्यार्थ ही तो 'ध्वनि' होगा । इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य के विषय में भी समझना चाहिए । अथवा, जब इस वाच्य अर्थ को ध्वनि

---

*जैसे वाचकशब्द को अन्यपदार्थ मानने पर अविवक्षितवाच्य पद में समास इस प्रकार होगा—अविवक्षितः अप्रधानीकृतः वाचकः शब्दः येन; अप्रधानीकृतः वाचकः शब्दः यस्मिन्; अप्रधानीकृतः वाचकः शब्दः यस्मात् (शब्दात्); अप्रधानीकृतः वाचकः शब्दः यस्य अथवा यत्सम्बन्धित्वेन; अप्रधानीकृतः वाचकः शब्दः यस्मै अर्थात् यदर्थत्वेन । इसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ, व्यञ्जना-व्यापार, और ध्वनि काव्य को अन्यपदार्थ मनने पर भी समझना चाहिए ।

लोचन

चासौ वाच्यश्चेति। विवक्षितो अन्यपरश्चासौ वाच्यश्चेति। तत्रार्थः कदाचिदनुपपद्यमानत्वादिना निमित्तेनाविवक्षितो भवति। कदाचिदुपपद्यमान इति कृत्वा विवक्षित एव, व्यङ्ग्यपर्यन्तां तु प्रतीतिं स्वसौभाग्यमहिम्ना करोति। अत एवार्थोऽत्र प्राधान्येन व्यञ्जकः, पूर्वत्र शब्दः। ननु च विवक्षा चान्यपरत्वं चेति विरुद्धम्। अन्यपरत्वेनैव विवक्षणात्को विरोधः? सामान्येनेति। वस्त्वलङ्काररसात्मना हि त्रिभेदोऽपि ध्वनिरभ्याभ्यामेवाभ्यां सङ्गृहीत इति भावः। ननु तन्नामपृष्ठे एतन्नामनिवेशनस्य किं फलम्? उच्यते —अनेन हि नामद्वयेन ध्वननात्मनि व्यापारे पूर्वप्रसिद्धाभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापार-

रश्मि

मानें उस समय यदि अविवक्षितवाच्य पद में कर्मधारय समास करेंगे तो विग्रह होगा— अविवक्षितश्चासौ वाच्यश्च इति। तथा उसी प्रकार इस पक्ष में विवक्षितान्यपरवाच्य पद का भी विवक्षितान्यपरश्चासौ वाच्यश्च इति इस प्रकार कर्मधारयपरक विग्रह करेंगे। वाच्यार्थ कभी (अविवक्षितवाच्य में) अनुपयुक्त होने के कारण अविवक्षित होता है; और कभी (विवक्षितान्यपरवाच्य में) उपयुक्त होकर विवक्षित होता है तथापि अपने (में विश्रान्ति न कर अपने) वैशिष्ट्य (गुणालङ्कारादिकृत सौन्दर्यबल) से व्यङ्ग्य-प्रतीति करा ही देता है। अतएव विवक्षितान्यपरवाच्य में वाच्यार्थ ही प्रधानतया व्यञ्जक होता है और अविवक्षितवाच्य में शब्द। यदि यह शङ्का की जाए कि वाच्यार्थ का एक साथ ही विवक्षित और अन्यपर होना विरुद्ध बातें हैं, तो समाधान है कि अन्य-पर रूप से ही उसकी विवक्षा होती है—इसमें क्या विरोध है? सामान्येनेति। वस्तु, अलङ्कार और रस—इन तीन रूपों वाली भी ध्वनि सामान्य रूप से अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य—इन दो भेदों में ही समेटी गई है। अब प्रश्न यह हुआ कि 'ध्वनि' का नाम लेने के तुरन्त बाद ही अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य कहने का क्या प्रयोजन है?*

उत्तर देते हैं:—इन दोनों नामों के द्वारा ध्वननरूप व्यापार में, पूर्वप्रसिद्ध अभिधातात्पर्यलक्षणारूप व्यापार-त्रय से अवगत होने वाले अर्थ की प्रतीति,

---

*कौमुदीकार ने इस प्रश्न को इस रूप में समझाया है—यद्युदाहरणावकाशदानार्थतया प्रभेदमात्रमिह प्रतिपिपादयिषितं तदा तत्प्रदर्शनमात्रं वृत्तिकृता कर्तव्यम्; न तु तदभ्यधिकं किञ्चित्। इह तु सामान्येन तस्य ध्वनिरिति नाम प्रथमं विधाय "स च" इति विशेषनामद्वयं प्रभेदाश्रयतया तदनन्तरं प्रदर्शितम्; तदत्राधिकयत्नालम्बने कोऽभिप्राय इति।

तत्राद्यस्योदाहरणम्—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

लोचन

त्रितयावगतार्थप्रतीतेः प्रतिपत्तृगतायाः प्रयोक्त्रभिप्रायरूपायाश्च विवक्षायाः सहकारित्वमुक्त-मिति ध्वनिस्वरूपमेव नामभ्यामेव प्रोज्जीवितम्।

सुवर्णपुष्पामिति। सुवर्णानि पुष्प्यतीति सुवर्णपुष्पा, एतच्च वाक्यमेवासम्भवत्स्वार्थमिति कृत्वाविवक्षितवाच्यम्। तत एव पदार्थमभिधायान्वयं च तात्पर्यशक्त्यावगमय्यैव बाधकवशेन तमुपहत्य सादृश्यात्सुलभसमृद्धिसम्भारभाजनतां लक्षयति। तल्लक्षणाप्रयोजनं शूरकृतविद्यसेवकानां प्राशस्त्यमशब्दवाच्यत्वेन गोप्यमानं सन्नायिकाकुचकलशयुगलमिव महार्घतामुपनयद्ध्वन्यत इति। शब्दोऽत्र प्रधानतया व्यञ्जकः, अर्थस्तु तत्सहका-

रश्मि

जो प्रतिपत्ता में रहती है—उसका सहकारित्व, तथा वक्ता की जो अभिप्रायरूपा विवक्षा होती है उसका भी सहकारित्व कहा गया है,—और इस प्रकार (अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य) इन दोनों नामों द्वारा ध्वनि का स्वरूप ही समुन्मिषित किया गया है।*१

सुवर्णपुष्पामिति। जो सोना फूले वह है सुवर्णपुष्पा*२ पृथ्वी।

इस वाक्य का स्वार्थ ही असम्भव है अतः इसमें (लक्षणामूलक) अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। अतः (स्वार्थ के अनुपपन्न होने के कारण ही) पहले पदार्थ की अभिधा की, पुनः तात्पर्यशक्ति से अन्वय करते ही मुख्यार्थबाध के कारण अन्वय के उपहत अथवा अनुपपन्न होने पर, सादृश्य के बल पर, (सुवर्णपुष्पा का) सुलभसमृद्धिसम्भारभाजनरूप लक्ष्यार्थ निकाला। और उस लक्षणा का प्रयोजन हुआ शूर, विद्वान् और सेवकों की श्रेष्ठता, जो कि शब्द का वाच्यार्थ न होने के कारण, युवती के कुचकलश-द्वय की भाँति, गुप्त रहकर मूल्यवान् (चारु) बनता हुआ ध्वनित हो रहा है। इस ('सुवर्णपुष्पाम्' इत्यादि) में शब्द ही प्रधानतया व्यञ्जक

*१—लोचनकार ने पहले भी ध्वनि में तीन भूतपूर्व शक्तियों की सहकारिता का उल्लेख किया है—"तच्छक्तित्रयोपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः।"

*२—सुवर्णानि पुष्प्यतीति विग्रह केवल सुवर्णपुष्पा पद का अर्थ बताने के लिए समझना चाहिए, अन्यथा इस विग्रह में तो यहाँ 'कर्मण्यण्' से अण् तथा फिर 'टिड्ढाणञ्' इत्यादि नियम से ङीप् का प्रसङ्ग आ जायगा। यहाँ का समासोचित विग्रह तो यह है—सुवर्णमेव पुष्पं यस्याः सा।

द्वितीयस्यापि—

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः ।
तरुणि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुककशावकः ॥

लोचन

रितयेति चत्वारो व्यापाराः ।

शिखरिणीति । न हि निर्विघ्नोत्तमसिद्धयोऽपि श्रीपर्वतादय इमां सिद्धिं विदध्युः । दिव्यकल्पसहस्रादिश्चात्र परिमितः कालः । न चैवंविधोत्तमफलजनकत्वेन पञ्चाग्निप्रभृत्यपि तपः श्रुतम् । तवेति भिन्नं पदम् । समासेन विगलिततया प्रतीयेत, तव दशतीत्यभिप्रायेण । तेन यदाहुः 'वृत्तानुरोधात्त्वदधरपाटलमिति न कृतम्' इति, तदसदेव; दशतीत्यास्वादयति अविच्छिन्नप्रबन्धतया, न त्वौदरिकवत्परं भुङ्क्ते; अपि तु रसज्ञोऽत्रेति तत्प्राप्तिवदेव रसज्ञताप्यस्य तपःप्रभावादेवेति । शुकशावक इति तारुण्यादुचितकाललाभोऽपि तपस एवेति । अनुरागिणश्च प्रच्छन्नस्वाभिप्रायख्यापनवैदग्ध्यचाटुविरचनात्मकविभावोद्दीपनं व्यङ्ग्यम् ।

रश्मि

है, अर्थ तो सहकारी रूप से है, अतः इसमें (अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा और व्यञ्जना) ये चारों ही व्यापार हैं ।

शिखरिणीति । निर्विघ्न रूप से उत्तम सिद्धि दिलाने वाले श्रीपर्वतादि भी यह सिद्धि नहीं दे सकते हैं । और दिव्यकल्पसहस्रादि भी परिमित ही काल होता है (उतने समय की तपस्या से भी यह फल नहीं मिल सकता ।) इस प्रकार का उत्तम फल देने वाले पञ्चाग्नि आदि तप भी नहीं सुने गए हैं । 'तवाधरपाटलम्' में 'तव' यह पद पृथक् ही है । ('त्वदधर' इत्यादि रूप से) समास में प्रयुक्त होने पर वह (उपसर्ज होने के कारण) क्षीण-शक्ति वाला (अप्रधान) हो जाता ।*

यहाँ पर 'तव' में अभिप्राय है कि 'तुम्हारा दंशन कर रहा है, (किसी अन्य का करता तो कोई बात नहीं थी ।), अतः किसी ने जो यह कहा है कि 'छन्द का ख्याल कर 'त्वदधरपाटल' रूप प्रयोग नहीं किया है'—यह ठीक नहीं है । 'दशति' का अर्थ है कि बिना उस वस्तु का विच्छेद किए उसका आस्वादन करता है । पेटू की भाँति उसे बस खा नहीं जाता, अपितु रसज्ञ है, और यह रसज्ञता भी उसे उस बिम्बफल की प्राप्ति के समान ही तपस्या के प्रभाव से ही मिली है । 'शुकशावक' का तात्पर्य है शुक का तरुण बच्चा, जिसे तरुणाई भी उचित काल में ही मिली है (अथवा उचित तरुणाई में ही बिम्बफल मिला है) जो भी उस तप का ही फल है । अनुरागी पुरुष का अपने छिपे हुए अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए जो वैदग्ध्यपूर्ण

*कौमुदीसम्मत पाठ के अनुसार यह अर्थ होगा कि—समास में वह तव दशति इस भाव से पृथक् प्रतीत न होगा ।

लोचन

अत्र च त्रय एव व्यापाराः—अभिधा तात्पर्यं ध्वननं चेति। मुख्यार्थबाधाद्यभावे मध्यमकक्ष्यायां लक्षणायास्तृतीयस्या अभावात्। यदि वाकस्मिकविशिष्टप्रश्नार्थानुपपत्तेर्मुख्यार्थबाधायां सादृश्याल्लक्षणा भवतु मध्ये। तस्यास्तु प्रयोजनं ध्वन्यमानमेव, तच्चतुर्थकक्ष्यानिवेशि, केवलं पूर्वत्र लक्षणैव प्रधानं ध्वननव्यापारे सहकारि। इह त्वभिधातात्पर्यशक्ती। वाक्यार्थसौन्दर्यादेव व्यङ्ग्यप्रतिपत्तेः केवलं लेशेन लक्षणाव्यापारोपयोगोऽप्यस्तीत्युक्तम्। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये तु लक्षणासमुन्मेषमात्रमपि नास्ति। असंलक्ष्यत्वादेव क्रमस्येति वक्ष्यामः। तेन द्वितीयेऽपि भेदे चत्वार एव व्यापाराः ॥१३॥

रश्मि

चाटुविरचन है, उसके द्वारा जो विभावरूप तरुणी का अपने प्रति रतियुक्त बनाना है, वही यहाँ व्यङ्ग्य है।

इस उदाहरण में तीन ही व्यापार हैं—अभिधा, तात्पर्य और ध्वनन। मुख्यार्थबाधादि के अभाव में मध्यमकक्ष्याविनिविष्ट तीसरे स्थान वाली लक्षणा का अभाव है। यदि चाहें तो यह कह सकते हैं कि शुक के प्रति आकस्मिक तपश्चरण आदि रूप जो प्रश्नार्थ है वह असम्भावित है अतः यहाँ मुख्यार्थबाध हो गया और (शुककर्तृक बिम्बफल के दशन से किसी युवक द्वारा अधरास्वाद का साम्य होने से) सादृश्य-सम्बन्ध से यहाँ भी लक्षणा है। परन्तु उस लक्षणा का भी प्रयोजन वही पूर्वोक्त ध्वन्यमान अर्थ रहेगा, जो कि चतुर्थकक्षानिविष्ट ही है। केवल अन्तर इतना है कि 'सुवर्णपुष्पाम्' इत्यादि उदाहरण में लक्षणा ही ध्वनन व्यापार में प्रधानतया सहकारी थी, और इसमें अभिधा और तात्पर्य दो शक्तियों का प्राधान्य है, क्योंकि वाक्यार्थ के (अपने) सौन्दर्य (वाच्यार्थ) से ही सीधे व्यङ्ग्य की प्रतीति हो जाने के कारण लक्षणा व्यापार का केवल लेशमात्र स्पर्श होता है (कोई विशेष उपयोग नहीं है) यह कह दिया है। और फिर असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में तो लक्षणा की झलक भी नहीं होती, क्योंकि वहाँ तो क्रम ही नहीं संलक्षित होता है—इसे हम आगे कहेंगे। [यहाँ संलक्ष्यक्रम था अतः आपकी लक्षणा को हमने तुष्यतुदुर्जनन्याय से किसी प्रकार मान लिया है।] इस प्रकार इस दूसरे भेद में भी चारों ही व्यापार होते हैं ॥१३॥

यदप्युक्तं भक्तिर्ध्वनिरिति, तत्प्रतिसमाधीयते—

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः ।

अयमुक्तप्रकारो ध्वनिर्भक्त्या नैकत्वं बिभर्ति भिन्नरूपत्वात् । वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये स ध्वनिः । उपचारमात्रं तु भक्तिः ।

लोचन

अत एवोभयोदाहरणपृष्ठ एव भाक्तमाहुरित्यनुभाष्य दूषयति । अयं भावः—भक्तिश्च ध्वनिश्चेति किं पर्यायवत्ताद्रूप्यम् ? अथ पृथिवीत्वमिव पृथिव्या अन्यतो व्यावर्तकधर्मरूपतया लक्षणम् ? उत काक इव देवदत्तगृहस्य सम्भवमात्रादुपलक्षणम् ? तत्र प्रथमं पक्षं निराकरोति—

भक्त्या बिभर्तीति । उक्तप्रकार :इति पञ्चस्वर्थेषु योज्यम्—शब्देऽर्थे व्यापारे व्यङ्ग्ये समुदाये च । रूपभेदं दर्शयितुं ध्वनेस्तावद्रूपमाह—वाच्येति । तात्पर्येण विश्रान्तिधामतया प्रयोजनत्वेनेति यावत् । प्रकाशनं द्योतनमित्यर्थः । उपचारमात्रमिति । उपचारो गुणवृत्तिर्लक्षणा । उपचरणमतिशयितो व्यवहार इत्यर्थः । मात्रशब्देनेदमाह—

रश्मि

(चूँकि दूसरे भेद में भी चारों ही व्यापार हैं,) अतएव इन दोनों उदाहरणों के बाद ही उसे भाक्त कहते हैं यह उद्धृत करके दूषित करते हैं । तात्पर्य यह है—क्या भक्ति और ध्वनि में परस्पर पर्यायवाची के समान ताद्रूप्य है ? अथवा क्या जैसे पृथ्वीत्व पृथ्वी का अन्य द्रव्यों से व्यावर्त्तकधर्मरूप लक्षण है वैसे ही भक्ति, ध्वनि का लक्षण है ? अथवा फिर, जैसे कभी उस घर पर अपनी सत्ता दिखाने मात्र से कौवा देवदत्त के घर का, उसी प्रकार क्या भक्ति भी ध्वनि का उपलक्षण* है ?

इन तीनों ही में पहले प्रथम पक्ष का निराकरण करते हैं :—

भक्त्या बिभर्तीति । 'उक्तप्रकार' अर्थात् पाँचों अर्थों में ध्वनि शब्द की योजना करनी चाहिए—शब्द, अर्थ, व्यापार, व्यङ्ग्य और समुदाय (ध्वनिकाव्य) में । रूपभेद दिखाने के लिए पहले ध्वनि का स्वरूप कहते हैं—वाच्येत्यादि । 'तात्पर्येण' अर्थात् विश्रान्तिस्थान होने के कारण प्रयोजन रूप से । 'प्रकाशन' अर्थात् द्योतन । उपचारमात्रमिति । उपचार अर्थात् गुणवृत्ति अथवा लक्षणा । उपचरण का अर्थ है अतिशयित (प्रसिद्ध अर्थ का उल्लङ्घन करके उससे सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ में) व्यवहार । 'मात्र'

---

*उपलक्षण शब्द का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए—"उपशब्दः सामीप्यार्थः, समीप एव वर्तमानः सन् न तु स्वरूपेऽन्तर्भावमनुभूय स्थितः सन् लक्षयतीत्युपलक्षणम् ।"—कौमुदी ।

मा चैतत्स्याद्भक्तिर्लक्षणं ध्वनेरित्याह—

अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया ॥१४॥

नैव भक्त्या ध्वनिर्लक्ष्यते। कथम्? अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च। तत्रातिव्याप्तिर्ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये भक्तेः सम्भवात्। यत्र हि व्यङ्ग्यकृतं महत्सौष्ठवं नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्त्या प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तितव्यवहाराः कवयो दृश्यन्ते।

लोचन

यत्र लक्षणाव्यापारात्तृतीयादन्यश्चतुर्थः प्रयोजनद्योतनात्मा व्यापारो वस्तुस्थित्या सम्भवन्नप्यनुपयुज्यमानत्वेनानाद्रियमाणत्वादसत्कल्पः। 'यमर्थमधिकृत्य' इति हि प्रयोजनलक्षणम्। तत्रापि लक्षणास्तीति कथं ध्वननं लक्षणा चेत्येकं तत्त्वं स्यात्। द्वितीयं पक्षं दूषयति—अतिव्याप्तेरिति। असाविति ध्वनिः। तयेति भक्त्या। ननु ध्वननमवश्यम्भावीति कथं तद्व्यतिरिक्तोऽस्ति विषय इत्याह—महत्सौष्ठवमिति। अत एव प्रयोजनस्यानादरणीयत्वाद्व्यञ्जकत्वेन न कृत्यं किञ्चिदिति भावः। महद्ग्रहणेन गुणमात्रं तद्भवति। यथोक्तम्—'समाधिरन्यधर्मस्य क्वाप्यारोपो विवक्षित' इति दर्शयति। ननु प्रयोजनाभावे कथं तथा व्यवहार इत्याह—प्रसिद्ध्यनुरोधेति। परम्परया तथैव प्रयोगात्।

रश्मि

शब्द द्वारा यह कहा है कि—जहाँ तृतीयकक्ष्याविनिविष्ट लक्षणा व्यापार से भिन्न चतुर्थ प्रयोजनद्योतनरूप व्यापार वर्त्तमान होते हुए भी अनुपयोगी होने के कारण अनादरणीय होता है, अतएव न होने के बराबर है। प्रयोजन का तो लक्षण है—'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्।' अर्थात् जिसके उद्देश्य से कुछ किया जाए वह प्रयोजन है। (किन्तु जहाँ प्रयोजन को उद्देश्य बनाकर वाक्य नहीं कहा गया है) वहाँ भी लक्षणा होती है, अतः कैसे ध्वनन और लक्षणा एक वस्तु (पर्यायवाची) हो सकते हैं? अब द्वितीय पक्ष को दूषित करते हैं—अतिव्याप्तेरिति। 'असौ' का अर्थ है 'ध्वनि'। 'तया' अर्थात् भक्ति द्वारा। अब यदि कोई यह कहे कि लक्षणा में ध्वनन अवश्यम्भावी है, अतः उससे भिन्न लक्षणा का विषय कैसे होगा तो उसका उत्तर देते हैं—'महत्सौष्ठवम्' इत्यादि के द्वारा। अतएव प्रयोजन के अनादरणीय होने के कारण ही यहाँ व्यञ्जकता से कुछ कार्य (चारुत्व आदि) नहीं होता। 'महत्सौष्ठवम्' में 'महत्' कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसे स्थलों पर व्यङ्ग्य रहता तो है, पर वह गुणीभूत (अथवा गुण-रूप) होता है। जैसा (कि समाधि गुण के लक्षण में) दिखाते हैं—"अन्य (अप्रस्तुत)

यथा—

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत-
स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम् ।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम् ॥

तथा—

चुम्बिज्जइ असहुत्तं अवरुन्धिज्जइ सहस्सहुत्तम्मि ।
विरमिअ पुणो रमिज्जइ पिओ जणो णत्थि पुनरुत्तम् ॥
(शतकृत्वोऽवरुध्यते सहस्रकृत्वः चुम्ब्यते ।
विरम्य पुना रम्यते प्रियो जनो नास्ति पुनरुक्तम् ॥
इतिच्छाया)

लोचन

वयं तु ब्रूमः—प्रसिद्धिर्या प्रयोजनस्यानिगूढतेत्यर्थः । उत्तानेनापि रूपेण तत्प्रयोजनं चकासन्निगूढतां निधानवदपेक्षत इति भावः । वदतीत्युपचारे हि स्फुटीकरणप्रतिपत्तिः प्रयोजनम् । यद्यगूढं स्वशब्देनोच्येत, किमचारुत्वं स्यात्? गूढतया वर्णने वा किं

रश्मि

के धर्म का कहीं (प्रस्तुत में) आरोप होने पर समाधिगुण कहा जाता है ।" अब प्रश्न उठता है कि प्रयोजन के अभाव में उस प्रकार का (उपचरित वृत्ति का) व्यवहार कैसे होगा ? उत्तर देते हैं --प्रसिद्ध्यनुरोधेति । परम्परा से उसी प्रकार प्रयोग होने से (उस प्रकार का व्यवहार होगा ।)

*परन्तु हमारा (अभिनव का) तो कहना है कि—"प्रयोजन की जो स्फुटता है वही यहाँ 'प्रसिद्धि' है ।" तात्पर्य यह है कि,स्फुट रूप से प्रयोजन के प्रकाशित होने पर भी उसकी निगूढता, खजाने की भाँति, आवश्यक है । 'वदति'—इस लाक्षणिक शब्द में 'स्फुटीकरण' रूप अर्थ की प्रतिपत्ति ही प्रयोजन (व्यङ्ग्य) है । यहाँ यदि ('वदति' के बदले) 'स्फुटीकरोति' शब्द स्वयं ही कह दिया जाए तो उसमें क्या अचारुता होगी ? और 'वदति' इत्यादि के द्वारा गूढ रूप से कहने में भी क्या अधिक चारुता

---

*अभिनव जी यहाँ प्रसिद्धि शब्द का अर्थ प्रयोजन की प्रकट रूप की सिद्धि अर्थात् प्रतीति या अनिगूढता करते हैं, जैसा कि कौमुदीकार का कहना है—"इह या प्रसिद्धिरुक्ता सा प्रयोजनसम्बन्धिन्येव न तु प्रयोगसम्बन्धिनी; सा च नानादिपारम्पर्यलक्षणा किन्त्वनिगूढतेति प्रयोजनस्य यत् प्रकटरूपत्वं तत् प्रसिद्धिशब्दस्यार्थ इति योजना ।"

तथा—

कुविआओ पसण्णाओ ओरण्णमुहीओ विहसमाणाओ ।
जह गहिओ तह हिअअं हरन्ति उच्छिन्नमहिलाओ ॥

तथा—

अज्जाएँ पहारो णवलदाए दिण्णो पिएण थणवट्ठे ।
मिउओ वि दूसहो च्चिअ जाओ हिअए सवत्तीणम् ॥
(भार्यायाः प्रहारो नवलतया दत्तः प्रियेण स्तनपृष्ठे ।
मृदुकोऽपि दुःसह इव जातो हृदये सपत्नीनाम् ॥
इतिच्छाया)

लोचन

चारुत्वमधिकं जातम् ? अनेनैवाशयेन वक्ष्यति—यत उक्त्यन्तरेणाशक्यं यदिति । अवरु-न्धिज्जइ आलिङ्ग्यते । पुनरुक्तमित्यनुपादेयता लक्ष्यते, उक्तार्थस्यासम्भवात् ।

कुपिताः प्रसन्ना अवरुदितवदना विहसन्त्यः ।
यथा गृहीतास्तथा हृदयं हरन्ति स्वैरिण्यो महिलाः ॥

अत्र ग्रहणेनोपादेयता लक्ष्यते । हरणेन तत्परतन्त्रतापत्तिः । तथा—अज्जेति । कनिष्ठभार्यायाः स्तनपृष्ठे नवलतया कान्तेनोचितक्रीडायोगेन मृदुकोऽपि प्रहारो दत्तः सपत्नीनां सौभाग्यसूचकं तत्क्रीडासंविभागमप्राप्तानां हृदये दुःसहो जातः, मृदुकत्वादेव ॥

रश्मि

आ गई ? इसी आशय से आगे की कारिका में कहेंगे—जो (चारुता) दूसरा उक्ति से कहने में अशक्य हो इत्यादि । 'अवरुन्धिज्जइ' का अर्थ है आलिङ्गन किया जाता है । 'पुनरुक्त' का लक्ष्यार्थ होगा 'अनुपादेयता', क्योंकि इसमें 'उक्त' शब्द के मुख्यार्थ का बाध है ।

"कुपिताः प्रसन्ना" इत्यादि श्लोक में 'ग्रहण' शब्द का लक्ष्यार्थ 'उपयोग में लाना' रूप में है । 'हरन्ति' अर्थात् हृदय को अपने अधीन कर लेती हैं ।

तथा—अज्जेति । कनिष्ठा भार्या के स्तन पर नायक द्वारा अभ्यस्त क्रीडा के प्रसङ्ग में दिया गया नवलतिका का मृदु प्रहार भी सपत्नियों के, जिनको उस क्रीडा में कोई हिस्सा नहीं मिला था (उनके), हृदय में दुःसह हो गया क्योंकि वह कनिष्ठा के सौभाग्य का सूचक था, क्योंकि वह बहुत हल्का था (सम्हाल कर मारने का मतलब है प्यार ।) एक को दिया हुआ मृदु प्रहार दूसरे के लिए हुआ, और मृदु भी दुःसह

तथा—

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः ।
न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः ॥

इत्यत्रेक्षुपक्षेऽनुभवतिशब्दः । न चैवंविधः कदाचिदपि ध्वनेर्विषयः ।

यतः—

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन् ।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद्ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत् ॥१५॥

अत्र चोदाहृते विषये नोक्त्यन्तराशक्यचारुत्वव्यक्तिहेतुः शब्दः ।

लोचन

अन्यस्य दत्तो मृदुः प्रहारोऽन्यस्य च सम्पद्यते । दुस्सहश्च मृदुरपीति चित्रम् । दानेनात्र फलवत्त्वं लक्ष्यते ।

तथा—परार्थेति । यद्यपि प्रस्तुतमहापुरुषापेक्षयानुभवतिशब्दो मुख्य एव, तथाप्यप्रस्तुते इक्षौ प्रशस्यमाने पीडाया अनुभवनेनासम्भवता पीडावत्त्वं लक्ष्यते; तच्च पीड्यमानत्वे पर्यवस्यति । नन्वस्त्यत्र प्रयोजनं तत्किमिति न ध्वन्यत इत्याशङ्क्याह—न चैवंविध इति ॥१४॥

यत उक्त्यन्तरेणेति । उक्त्यन्तरेण ध्वन्यतिरिक्तेन स्फुटेन शब्दार्थव्यापारविशेषेणेत्यर्थः । शब्द इति पञ्चस्वर्थेषु योज्यम् । ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेदिति—ध्वनिशब्देनोच्यत

रश्मि

हुआ—विचित्रता इसमें है । 'दत्तः' का लक्ष्यार्थ है कि प्रहार सफल हुआ (अर्थात् ठीक जगह पर बैठा ।)

तथा—परार्थेति । यद्यपि प्रस्तुत महापुरुष के लिए 'अनुभवति' शब्द का मुख्यार्थ ही ठीक है, तथापि अप्रस्तुत ईख की चर्चा में (जो कि वाच्य रूप से है) पीडा का अनुभव असम्भव होने से उसका लक्ष्यार्थ होगा 'पीडा वाला होना', और उसका पर्यवसान होगा 'मर्दित होना' इस अर्थ में । अब शङ्का होती है कि उपर्युक्त सभी स्थलों में प्रयोजन का सद्भाव होते हुए भी वह क्यों ध्वनि नहीं माना जाता ? अतः उत्तर देते हैं—न चैवंविध इति ॥१४॥

उक्त्यन्तरेणेति । ध्वनि से व्यतिरिक्त व्यवहार-क्षेत्र में प्रसिद्ध शब्दार्थ के व्यापार-

किञ्च—

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥१६॥

तेषु चोपचरितशब्दवृत्तिरस्तीति । तथाविधे च विषये क्वचित्सम्भवन्नपि ध्वनिव्यवहारः प्रकारान्तरेण प्रवर्तते । न तथाविधशब्दमुखेन ।

लोचन

इत्यर्थः । उदाहृत इति । वदतीत्यादौ ॥१५॥

एवं यत्र प्रयोजनं सदपि नादरास्पदं तत्र को ध्वननव्यापार इत्युक्त्वा यत्र मूलत एव प्रयोजनं नास्ति, भवति चोपचारस्तत्रापि को ध्वननव्यापार इत्याह—किञ्चेति । लावण्याद्या ये शब्दाः स्वविषयाल्लवणरसयुक्तत्वादेः स्वार्थादन्यत्र हृद्यत्वादौ रूढाः रूढत्वादेव त्रितयसन्निध्यपेक्षणव्यवधानशून्याः । यदाह—

निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत् । इति । ते तस्मिन् स्वविषयादन्यत्र प्रयुक्ता अपि न ध्वनेः पदं भवन्ति; न तत्र ध्वनिव्यवहारः । उपचरिता शब्दस्य वृत्ति-

रश्मि

विशेष द्वारा । 'शब्द'* से (वाच्य, वाचक, व्यङ्ग्य, व्यञ्जना आदि) पाँचों अर्थों का ग्रहण करना चाहिए । 'ध्वन्युक्ते विषयीभवेत्'—अर्थात् 'ध्वनि' शब्द द्वारा पुकारा जाता है । 'उदाहृते' का अर्थ है 'वदति' इत्यादि उदाहरणों में ॥१५॥

इस प्रकार जहाँ प्रयोजन होते हुए भी यदि आदरणीय नहीं होता वहाँ ध्वनन-व्यापार नहीं होता है—यह कह कर अब यह प्रतिपादन करते हैं कि जहाँ मूल रूप से ही प्रयोजन नहीं है, किन्तु लक्षणा रहती है वहाँ कैसे ध्वनन-व्यापार हो सकता है —किञ्चेति । 'लावण्य' आदि जो शब्द अपने मुख्य अर्थ लवणरसयुक्तत्व आदि से अन्यत्र हृद्यत्वादि अर्थों में निरूढ हैं, (उन अर्थों में) रूढ होने के कारण ही उनमें मुख्यार्थबाधादि-त्रय के सान्निध्य की अपेक्षा नहीं होती है । जैसा कि कहा है—"कुछ रूढा लक्षणाएँ, प्रयोग के सामर्थ्यवश (अर्थात् नियमतः उसी रूढ लाक्षणिक अर्थ में उनका प्रयोग होने के कारण), अभिधान के सदृश होती हैं ।"

वे (लावण्यादि-शब्द) अपने अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी ध्वनि के पद (पात्र) नहीं बनते हैं, अर्थात् उनमें ध्वनिव्यवहार नहीं होता । शब्द की उपचरिता (अमुख्य) वृत्ति से तात्पर्य गौणी तथा लाक्षणिकी वृत्तियों से है ।

---

* अभिनव ने 'शब्द' पद को 'ध्वनि' का पर्यायवाची माना है, अतः इससे भी ध्वनि के पाँचों अर्थ निकाले हैं ।

अपि च—

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम् ।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥१७॥

लोचन

गौणी; लाक्षणिकी चेत्यर्थः। आदिग्रहणेनानुलोम्यं प्रातिकूल्यं सब्रह्मचारीत्येवमादयः शब्दा लाक्षणिका गृह्यन्ते। लोम्नामनुगतमनुलोमं मर्दनम्। कूलस्य प्रतिपक्षतया स्थितं स्रोतः प्रतिकूलम्। तुल्यगुरुः सब्रह्मचारी इति मुख्यो विषयः। अन्यः पुनरुपचरित एव। न चात्र प्रयोजनं किञ्चिदुद्दिश्य लक्षणा प्रवृत्तेति न तद्विषयो ध्वननव्यवहारः।

ननु 'देवडिति लुणाहि पल्लुत्रम्मिगमिज्वालवणुज्वलं गुमरिफोल्लपरएय' (?) इत्यादौ लावण्यादिशब्दसन्निधानेऽस्ति प्रतीयमानाभिव्यक्तिः; सत्यम्, सा तु न लावण्यशब्दात्। अपि तु समग्रवाक्यार्थप्रतीत्यनन्तरं ध्वननव्यापारादेव। अत्र हि प्रियतमामुखस्यैव समस्ताशाप्रकाशकत्वं ध्वन्यत इत्यलं बहुना। तदाह—प्रकारान्तरेणेति। व्यञ्जकत्वेनैव। न तूपचरितलावण्यादिशब्दप्रयोगादित्यर्थः। १६॥

एवं यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिरिति तावन्नास्ति। तेन यदि ध्वनेर्भक्तिर्ल-

रश्मि

'लावण्याद्याः' में 'आदि' पद द्वारा आनुलोम्यम्, प्रातिकूल्यम्, सब्रह्मचारी इत्यादि लाक्षणिक शब्दों को ग्रहण करना चाहिए। रोयों के अनुकूल मर्दन अनुलोम कहलाता है। कूल के प्रतिपक्षतया स्थित स्रोत प्रतिकूल है। समान गुरु जिनके हैं वे सब्रह्मचारी होते हैं—इस प्रकार ये इनके मुख्य अर्थ हैं। अन्य (क्रमशः अनुरोधी, विरोधी तथा तुल्य) अर्थ उपचरित ही हैं। और यहाँ पर किसी भी प्रयोजन को उद्देश्य करके लक्षणा नहीं प्रवृत्त हुई है, अतः यहाँ ध्वनि-व्यवहार न होगा।

अब यदि यह प्रश्न किया जाए कि 'देवडिति···' इत्यादि वाक्य में तो लावण्यादि शब्द के सन्निधान में प्रतीयमान अर्थ की भी अभिव्यक्ति हो रही है; तो उत्तर देते हैं कि हाँ ठीक है, परन्तु वह प्रतीयमान की अभिव्यक्ति 'लावण्य' शब्द से नहीं हो रही है, अपितु समस्त वाक्य की प्रतीति के अनन्तर (पूरे वाक्य के) ध्वनन व्यापार द्वारा ही (प्रतीयमान) अभिव्यक्त हो रहा है। यहाँ यह ध्वनित होता है कि प्रियतमा का मुख समस्त दिशाओं का प्रकाशक है। खैर, अब अधिक न कहेंगे। इसीलिए कहा है—प्रकारान्तरेणेति। अर्थात् अर्थगतव्यञ्जनव्यापार के ही द्वारा ध्वनि निकल रही है, न कि लावण्यादि उपचरित शब्दों के प्रयोग से ॥१६॥

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि जहाँ जहाँ भक्ति है वहाँ वहाँ ध्वनि होगी ही—

लोचन

क्षणं तदा भक्तिसन्निधौ सर्वत्र ध्वनिव्यवहारः स्यादित्यतिव्याप्तिः । अभ्युपगम्यापि ब्रूमः—भवतु यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिः । तथापि यद्विषयो लक्षणाव्यापारो न तद्विषयो ध्वननव्यापारः । न च भिन्नविषययोर्धर्मधर्मिभावः, धर्म एव च लक्षणमित्युच्यते । तत्र लक्षणा तावदमुख्यार्थविषयो व्यापारः । ध्वननं च प्रयोजनविषयम् । न च तद्विषयोऽपि द्वितीयो लक्षणाव्यापारो युक्तः, लक्षणासामग्र्यभावादित्यभिप्रायेणाह—अपि चेत्यादि । मुख्यां वृत्तिमभिधाव्यापारं परित्यज्य परिसमाप्य गुणवृत्त्या लक्षणारूपयार्थस्यामुख्यस्य दर्शनं प्रत्यायना, सा यत्फलं कर्मभूतं प्रयोजनरूपमुद्दिश्य क्रियते, तत्र प्रयोजने तावद्द्वितीयो व्यापारः । न चासौ लक्षणैव; यतः स्खलन्ती बाधकव्यापारेण विधुरीक्रियमाणा मतिरवबोधनशक्तिर्यस्य शब्दस्य तदीयो व्यापारो लक्षणा । न च प्रयोजनमवगमयतः शब्दस्य बाधकयोगः । तथाभावे तत्रापि निमित्तान्तरस्य

रश्मि

ऐसी बात नहीं है । अतः यदि ध्वनि का लक्षण भक्ति है तब भक्ति के रहने पर सर्वत्र ध्वनिव्यवहार होना चाहिए—परन्तु ऐसा होने पर अतिव्याप्ति दोष होगा (क्योंकि पूर्वोक्त 'वदति' इत्यादि शब्दों में भक्ति का सद्भाव होने पर भी ध्वनि का अभाव है ।) अच्छा ऐसा स्वीकार करके भी कहते हैं:—माना जहाँ जहाँ भक्ति है वहाँ वहाँ ध्वनि भी हो जाए, फिर भी लक्षणाव्यापार का जो विषय (प्रतिपाद्य-अर्थ) होता है वह विषय (अर्थ) ध्वनन व्यापार का नहीं होता । और भिन्न विषय (अर्थ) वालों में परस्पर धर्मधर्मि (लक्षणलक्ष्य) सम्बन्ध नहीं होता, धर्म ही लक्षण कहलाता है । लक्षणा व्यापार का विषय तो अमुख्य अर्थ है और ध्वनन का विषय है प्रयोजन । तथा प्रयोजनविषय को देने के लिए दूसरी लक्षणा भी नहीं लगती क्योंकि उसके लिए मुख्यार्थबाधादि-सामग्री का अभाव है । इसी अभिप्राय से कहते हैं--अपि चेत्यादि । मुख्यवृत्ति अर्थात् अभिधा व्यापार को छोड़कर गुणवृत्ति (लक्षणा) द्वारा जो अमुख्यार्थ का दर्शन अर्थात् प्रत्यायना होती है, वह जिस फलरूप प्रयोजन को उद्देश्य करके की जाती है, उस प्रयोजन के ज्ञान में तो दूसरा ही व्यापार होता है । और वह लक्षणा-व्यापार ही नहीं होता, क्योंकि जिस शब्द की गति अर्थात् अर्थशक्ति स्खलित होती है, अर्थात् बाधकव्यापार द्वारा कुण्ठित की जाती है उसी शब्द का व्यापार लक्षणा है । प्रयोजन का अवगमन कराते समय शब्द का बाधकयोग होता नहीं है (क्योंकि वह उसका सङ्केतित अर्थ तो होता नहीं, और बाधा सङ्केतित अर्थ के विषय में ही होती है ।) और यदि

तत्र हि चारुत्वातिशयविशिष्टार्थप्रकाशनलक्षणे प्रयोजने कर्तव्ये यदि शब्दस्यामुख्यता तदा तस्य प्रयोगे दुष्टतैव स्यात् । न चैवम् ;

लोचन

प्रयोजनान्तरस्य चान्वेषणेनानवस्थानात् । तेनायं लक्षणलक्षणाया न विषय इति भावः । दर्शनमिति ण्यन्तो निर्देशः । कर्तव्य इति । अवगमयितव्य इत्यर्थः । अमुख्यतेति । बाधकेन विधुरीकृततेत्यर्थः । तस्येति शब्दस्य । दुष्टतैवेति । प्रयोजनावगमस्य सुखसम्पत्तये

रश्मि

वहाँ भी बाधकयोग मानें, तो वहाँ भी निमित्तान्तर और प्रयोजनान्तर ढूँढने से अनवस्था* हो जाएगी । अतः यह लक्षणलक्षणा का विषय नहीं है । [जैसे गङ्गायां घोषः इत्यादि में सादृश्येतर सम्बन्ध के कारण तीरादि अर्थ में उपादान लक्षणा न होकर लक्षणलक्षणा होती है उस प्रकार वह शैत्यपावनत्वादि अर्थ देने में न होगी ।] 'दर्शनम्' में ण्यन्त निर्देश है । (तभी उसका अर्थ प्रत्यायना अर्थात् 'बोध कराना' किया गया ।) कर्त्तव्ये इति । अर्थात् प्रयोजन अवगमन करने में । अमुख्यतेति । अर्थात् बाधक योग द्वारा कुण्ठीकरणत्व । 'तस्य' अर्थात् उस शब्द का । दुष्टतैवेति ।

---

*काव्यप्रकाशकार ने इन्हीं विचारों को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ।।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ।।

प्रयोजनप्रतिपिपादयिषया यत्र लक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतीतिरपि तु तस्मादेव शब्दात् । न चात्र व्यञ्जनादृतेऽन्यो व्यापारः ।। तथाहि---नाभिधा समयाभावात् । गङ्गायां घोष इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते न तत्र गङ्गादिशब्दाः सङ्केतिताः ।। हेत्वभावान्न लक्षणा ।। मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः । तथा च—

लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो ।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः ।।

यथा गङ्गाशब्दः स्रोतसि सबाध इति तटं लक्षयति तद्वत् यदि तटेऽपि सबाधः स्यात् तत् प्रयोजनं लक्षयेत् । न च तटं मुख्योऽर्थः । नाप्यत्र बाधः । न च गङ्गाशब्दार्थस्य तटस्य पावनत्वाद्यैर्लक्षणीयैः सम्बन्धः । नापि प्रयोजने लक्ष्ये किञ्चित् प्रयोजनम् । नापि गङ्गाशब्दस्तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः ।।

एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी ।

एवमपि प्रयोजनं चेल्लक्ष्यते तत् प्रयोजनान्तरेणेति तदपि प्रयोजनान्तरेणेति प्रकृताप्रतीतिकृत् अनवस्था भवेत् ।।"

लोचन

हि स शब्दः प्रयुज्यते तस्मिन्नमुख्यार्थे। यदि च 'सिंहो वटुः' इति शौर्यातिशयेऽप्यवगमयितव्ये स्खलद्गतित्वं शब्दस्य तर्हि तत्प्रतीतिं नैव कुर्यादिति किमर्थं तस्य प्रयोगः। उपचारेण करिष्यतीति चेत्तत्रापि प्रयोजनान्तरमन्वेष्यं तत्राप्युपचार इत्यनवस्था। अथ न तत्र स्खलद्गतित्वं, तर्हि प्रयोजनेऽवगमयितव्ये न लक्षणाख्यो व्यापारः तत्सामग्र्यभावात्। न च नास्ति व्यापारः। न चासावभिधा, समयस्य तत्राभावात्। यद्व्यापारान्तरमभिधालक्षणातिरिक्तं स ध्वननव्यापारः। न चैवमिति। न च प्रयोगे दुष्टता काचित्, प्रयोजनस्याविघ्नेनैव प्रतीतेः। तेनाभिधैव मुख्येऽर्थे बाधकेन प्रविविक्षुर्निरुध्यमाना सती अचरितार्थत्वादन्यत्र प्रसरति। अत एव अमुख्यो-

रश्मि

प्रयोजन के बोध की आसानी के लिए ही वह (गङ्गा सिंहादि) शब्द, उस (तट वटु आदि) अमुख्य अर्थ में प्रयुक्त होता है। यदि 'सिंहो वटुः' उदाहरण में शौर्यातिशय-रूप प्रयोजन बताने में 'सिंह' शब्द स्खलद्गति वाला है, तब तो उस प्रयोजन की प्रतीति ही न करा पायेगा; फिर उस शब्द का प्रयोग ही क्यों किया जाएगा। यदि लक्षणा व्यापार द्वारा प्रयोजन की प्रतीति करना चाहेंगे, तब उस लक्षणा को लाने के लिए दूसरा प्रयोजन ढूँढना पड़ेगा और उस प्रयोजन में भी लक्षणा ही रहेगी—इस प्रकार अनवस्था हो जायगी। और यदि प्रयोजन के प्रतिपादन में शब्द को स्खलद्गति न मानें, तो प्रयोजन के अवगमन में लक्षणा व्यापार तो मुख्यार्थबाधादि सामग्री के अभाव के कारण नहीं ही है। यह भी नहीं है कि कोई व्यापार ही न हो (कोई न कोई व्यापार तो अवश्य है।) किन्तु (प्रयोजन शैत्यपावन के साथ गङ्गादि शब्द के) सङ्केत सम्बन्ध के न होने के कारण वह व्यापार अभिधा तो नहीं है। और अभिधा-लक्षणा से भिन्न जो दूसरा व्यापार है वही ध्वनन व्यापार है। न चैवमिति। (गङ्गादि लाक्षणिक) शब्दों के प्रयोग में कोई दुष्टता नहीं है, क्योंकि (इन शब्दों से शैत्यादि) प्रयोजन निर्विघ्न रूप से प्रतीत हो जाता है। (चूँकि स्खलद्गति-शब्द का व्यापार लक्षणा है) अतः प्रवृत्त होने की इच्छुक अभिधा ही मुख्यार्थ में प्रत्यक्षादि प्रमाण रूप बाधक द्वारा बाधित होकर कुण्ठित होती हुई, कृतार्थ न होने के कारण अन्यत्र (अमुख्य अर्थ की ओर) मुड़ जाती है। अतः, 'यह इस (शब्द) का अमुख्यार्थ है'—इस प्रकार लोक में व्यवहार होता है। उसी प्रकार अमुख्यरूप से वहाँ (उस

ध्वनिप्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षणः अन्ये च बहवः प्रकारा भक्त्या व्याप्यन्ते ; तस्माद्भक्तिरलक्षणम् ।

लोचन

'सुवर्णपुष्पां' इत्यादौ । 'शिखरिणि' इत्यादौ तु सा कथम् । ननु लक्षणा तावद्गौणमपि व्याप्नोति । केवलं शब्दस्तमर्थं लक्षयित्वा तेनैव सह सामानाधिकरण्यं भजते— 'सिंहो वटुः' इति । अर्थो वार्थान्तरं लक्षयित्वा स्ववाचकेन तद्वाचकं समानाधिकरणं करोति । शब्दार्थौ वा युगपत्तं लक्षयित्वा अन्याभ्यामेव शब्दार्थाभ्यां मिश्रीभवत इत्येवं लाक्षणिकाद्गौणस्य भेदः । यदाह—'गौणे शब्दप्रयोगः, न लक्षणायाम्' इति, तत्रापि लक्षणास्त्येवेति सर्वत्र सैव व्यापिका । सा च पञ्चविधा । तद्यथा—अभिधेयेन

रश्मि

तो अव्याप्ति न होगी । परन्तु ऐसा है नहीं; अविवक्षितवाच्य ध्वनि में तो भक्ति अवश्य होती है जैसे 'सुवर्णपुष्पाम्'–इत्यादि उदाहरण में । परन्तु 'शिखरिणि'–इत्यादि विवक्षितान्यपरवाच्य के उदाहरण में वह कैसे होगी ? पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि—लक्षणा तो गौण अर्थात् 'सिंहो वटुः' इत्यादि स्थलों में भी व्याप्त होती है । केवल (इतनी विशेषता है कि*१) गौण में–(सिंह) शब्द, (वटु) अर्थ को लक्षित करके उसी शब्द के साथ सामानाधिकरण्य को प्राप्त होता है, जैसे 'सिंहो वटुः' । अथवा (दूसरे शब्दों में) (सिंह रूप) अर्थ दूसरे (वटु रूप) अर्थ को लक्षित करके, अपने वाचक (सिंह) शब्द के साथ, उस अर्थान्तर के वाचक (वटु) शब्द को समानाधिकरण रूप में स्थापित करता है । अथवा (अन्य प्रकार के शब्दों में) (सिंह) शब्द और (सिंह) अर्थ दोनों एक साथ ही उस (वटु रूप) अर्थान्तर को लक्षित करके, (वटु के) शब्द और अर्थ के साथ मिल जाते हैं ।*२ यही (पूर्वोक्त) गौण का लाक्षणिक से भेद है । जैसा कि कहा भी है—"गौण में (लक्ष्यार्थ के वाचक) शब्द का प्रयोग होता है, लक्षणा में नहीं ।" वहाँ (गौण-स्थल में) भी लक्षणा होती है—इस प्रकार सर्वत्र लक्षणा ही व्याप्त है । वह पाँच प्रकार

---

*१ इह च त्रयः पक्षाः दर्शिताः । तत्रान्विताभिधानवादिमतानुसारेणाद्यः पक्षः ; द्वितीयस्तु अभिहितान्वयवादानुरोधेन । तृतीयः शाब्दप्रस्थानास्थानेन । आद्ये शब्दस्य स्वातन्त्र्यम् , द्वितीयेऽर्थस्य, तृतीये द्वयोरिति विभागो भावनीयः ।—कौमुदी ।

*२ मिश्रीभवनं नाम शब्दयोरेकधर्मिबोधकत्वमर्थयोस्त्वभेदेनान्वयित्वम् ।—बालप्रिया ॥

लोचन

संयोगात्; द्विरेफशब्दस्य हि योऽभिधेयो भ्रमरशब्दः द्वौ रेफौ यस्येति कृत्वा तेन भ्रमरशब्देन यस्य संयोगः सम्बन्धः षट्पदलक्षणस्यार्थस्य सोऽर्थो द्विरेफशब्देन लक्ष्यते, अभिधेयसम्बन्धं व्याख्यातरूपं निमित्तीकृत्य । सामीप्यात् 'गङ्गायां घोषः' । समवायादिति सम्बन्धादित्यर्थः, 'यष्टीः प्रवेशय' इति यथा । वैपरीत्यात् यथा—शत्रुमुद्दिश्य कश्चिद्ब्रवीति—'किमिवोपकृतं न तेन मम' इति । क्रियायोगादिति कार्यकारणभावादित्यर्थः । यथा—अन्नापहारिणि व्यवहारः प्राणानयं हरति इति । एवमनया लक्षणया पञ्चविधया विश्वमेव व्याप्तम् । तथाहि—'शिखरिणि' इत्यत्राकस्मिकप्रश्नविशेषादिबाधकानुप्रवेशे सादृश्याल्लक्षणास्त्येव । नन्वत्राङ्गीकृतैव मध्ये लक्षणा, कथं तर्हि क विव-

रश्मि

की होती है। जैसे—प्रथम प्रकार की—अभिधेय अर्थ से संयोग होने के कारण; 'द्विरेफ' शब्द का अभिधेय है 'भ्रमर', क्योंकि उसमें दो रेफ होते हैं। अतः 'भ्रमर' शब्द से जिस षट्पदरूप अर्थ का (वाच्य-वाचक) संयोग है, वह अर्थ 'द्विरेफ' शब्द का लक्ष्यार्थ है । अभिधेय-सम्बन्ध को, जिसके स्वरूप की व्याख्या अभी की गई है, निमित्त बना कर ही यह लक्ष्यार्थ निकलता है। दूसरे प्रकार की लक्षणा, अभिधेय अर्थ से सामीप्य-सम्बन्ध के कारण होती है—इसका उदाहरण है—'गङ्गायां घोषः' । तीसरे प्रकार की लक्षणा अभिधेय अर्थ के साथ समवाय अर्थात् आधाराधेय आदि सम्बन्ध होने के कारण होती है जैसे—'यष्टीः प्रवेशय' में । अभिधेय-अर्थ से वैपरीत्य होने के कारण चतुर्थ प्रकार की लक्षणा होती है, जैसे शत्रु को उद्देश्य करके कोई यह कहे कि—"उसने मेरा कौन सा उपकार नहीं किया ?" पाँचवें प्रकार की लक्षणा होती है—अभिधेय से क्रियायोग अर्थात् कार्यकारणभावसम्बन्ध होने के कारण । यथा—अन्न के चुराने वाले के प्रति "यह प्राणों को हरता है"—इस प्रकार के वाक्य का व्यवहार किया जाए। इस प्रकार इस पञ्चविधा लक्षणा से अमुख्यार्थनिष्ठ सम्पूर्ण (वाग्व्यवहार का) विश्व ही व्याप्त है। जैसे कि—'शिखरिणि' इत्यादि (विवक्षितान्यपरवाच्य के उदाहरण) में भी लक्षणा विद्यमान है। आकस्मिक प्रश्न-विशेषादि (आदि से तात्पर्य शुक का तपस्या करना आदि है) के कारण अनुपपत्ति के अनुप्रवेश होने से तथा (शुक द्वारा बिम्बफल कुतरने का अधरास्वाद के साथ साम्य होने के कारण) सादृश्य के निमित्त (आधार) से यहाँ लक्षणा की सत्ता है। यदि, आप यह कहें कि 'शिखरिणि' इत्यादि उदाहरण में हमने पहले ही लक्षणा की

लोचन

क्षितान्यपरेति ? तद्भेदोऽत्र मुख्योऽसंलक्ष्यक्रमात्मा विवक्षितः । तद्भेदशब्देन च रसभाव-तदाभासतत्प्रशमभेदास्तदवान्तरभेदाश्च, न च तेषु लक्षणाया उपपत्तिः । तथाहि—विभावानुभावप्रतिपादके काव्ये मुख्येऽर्थे तावद्बाधकानुप्रवेशोऽप्यसम्भाव्य इति को लक्षणावकाशः ?

ननु किं बाधया, इयदेव लक्षणास्वरूपम्—'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते' इति । इह चाभिधेयानां विभावानुभावादीनामविनाभूता रसादय इति लक्ष्यन्ते, विभावानुभावयोः कारणकार्यरूपत्वात्, व्यभिचारिणां च तत्सहकारित्वादिति चेत्—मैवम्; धूमशब्दाद्धूमे प्रतिपन्ने ह्यग्निस्मृतिरपि लक्षणाकृतैव स्यात्, ततोऽग्नेः शीतापनोदस्मृति-

रश्मि

सत्ता तो बीच में मान ही ली थी ? तो (प्रतिपक्षी) यह कहेंगे कि फिर आपने उसको (अर्थात् 'शिखरिणि' को) विवक्षितान्यपरवाच्य कैसे कहा ? (अभिनव जी इस सम्पूर्ण पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुए कहते हैं कि—) वृत्ति में 'विवक्षितान्यपरवाच्य' शब्द द्वारा उसके अवान्तर भेद असंलक्ष्यक्रम की विवक्षा की गई है। और वृत्ति में 'तद्भेदप्रकाराः' में 'तद्भेद' शब्द द्वारा रस, भाव, तदाभास, तत्प्रशम इत्यादि भेद और उनके भी शृङ्गार, हास्यादि अवान्तर भेद विवक्षित हैं—इन सबमें लक्षणा की उपपत्ति नहीं होती। क्योंकि जिस काव्य में विभावों अनुभावों क वर्णन हुआ है उसमें मुख्यार्थबाध ही असम्भव है, अतः फिर वहाँ लक्षणा का क्य स्थान ?

(प्रतिपक्षी पुनः शङ्का करता है कि) लक्षणा के लिए मुख्यार्थबाध की क आवश्यकता ? लक्षणा का स्वरूप तो केवल इतना ही है कि "अभिधेय अर्थ के साथ अविनाभाव रूप में सम्बद्ध प्रतीति लक्षणा कहलाती है।"—(भट्टवार्तिक के अनुसार) और यहाँ (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि में) रसादि, अभिधेयों अर्थात् विभावानुभावादिकों के अविनाभूत अर्थ हैं अतः लक्षित होते हैं, (इनका अविनाभाव सम्बन्ध इसलिए है) क्योंकि विभावानुभाव रस के प्रति कारण और कार्य रूप होते हैं, तथा व्यभिचारी सहकारी होते हैं। (अतः पूर्वपक्षी के अनुसार लक्षणा द्वारा ही रसादि की भी प्रतीति होनी चाहिए। इसका खण्डन सिद्धान्त रूप से करते हैं :—) ऐसा नहीं है ; इस प्रकार तो धूम शब्द से धुएँ की प्रतिपत्ति हो जाने पर अग्नि की स्मृति भी लक्षणाकृत ही होने लगेगी और फिर अग्नि का शीतादि को दूर करने की स्मृति आदि

लोचन

रित्यादिरपर्यवसितः शब्दार्थः स्यात्। धूमशब्दस्य स्वार्थविश्रान्तत्वान्न तावति व्यापार इति चेत्, आयातं तर्हि मुख्यार्थबाधो लक्षणाया जीवितमिति, सति तस्मिन्स्वार्थविश्रान्त्यभावात्। न च विभावादिप्रतिपादने बाधकं किञ्चिदस्ति।

नन्वेवं धूमावगमनानन्तराग्निस्मरणवद्विभावादिप्रतिपत्यनन्तरं रत्यादिचित्तवृत्तिप्रतिपत्तिरिति शब्दव्यापार एवात्र नास्ति। इदं तावदयं प्रतीतिस्वरूपज्ञो मीमांसकः प्रष्टव्यः—किमत्र परचित्तवृत्तिमात्र प्रतिपत्तिरेव रसप्रतिपत्तिरभिमता भवतः ? न चैवं भ्रमितव्यम्; एवं हि लोकगतचित्तवृत्त्यनुमानमात्रमिति का रसता ? यस्त्वलौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः काव्यगतविभावादिचर्वणाप्राणो नासौ स्मरणानुमानादिसाम्येन खिलीकारपात्रीकर्तव्यः। किं तु लौकिकेन कार्यकारणानुमानादिना संस्कृतहृदयो विभावादिकं प्रतिपद्यमान एव न ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते, अपि तु हृदयसंवादापरपर्यायसहृदयत्वपरवशीकृततया पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमानस्मरणादिसरणिमनारुह्यैव तन्म-

रश्मि

असीम अर्थ (अथवा बेठिकाने के अर्थ) शब्द के निकलने लगेंगे (क्योंकि धूम और अग्नि आदि का अविनाभाव-सम्बन्ध है।) यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि 'धूम' शब्द का तो अपने सङ्केतित अर्थ में ही पर्यवसान हो जाने के कारण अग्नि आदि इतने अर्थों में उसका व्यापार नहीं होगा, तब तो यही बात आई कि मुख्यार्थबाधा ही लक्षणा का बीज है, क्योंकि मुख्यार्थबाध होने पर स्वार्थ में विश्रान्ति नहीं हो पाती। और विभावादिक के प्रतिपादन में कोई बाधा होती नहीं (अतः रसादि लक्षणागम्य नहीं हैं।)

अब प्रतिपक्षी यह शङ्का करता है कि जिस प्रकार धूम के बोध के अनन्तर अग्नि का स्मरण हो आता है, उसी प्रकार विभावादि की प्रतिपत्ति के अनन्तर रत्यादि चित्तवृत्ति की भी प्रतिपत्ति हो जाती है, अतः उस (रत्यादि) प्रतीति में शब्द का व्यापार ही नहीं है (फिर उसके व्यञ्जनाजन्य होने की तो बात ही क्या ?) सिद्धान्तवादी कटाक्ष करता हुआ उत्तर देता है कि इस प्रतीतिस्वरूपज्ञ मीमांसक से यह पूछना चाहिए कि—क्या आपको यही अभिमत है कि दूसरे की चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति हो जाना ही रस-प्रतीति है ? इस प्रकार भ्रम नहीं करना चाहिए; क्योंकि इस प्रकार से तो केवल लोकगतचित्तवृत्ति का ही अनुमान हुआ। उसमें रसास्वादन क्या रहा ? काव्य में वर्णित विभावादि की चर्वणा ही जिसका प्राण है ऐसे अलौकिक चमत्कार—स्वरूप रसास्वाद को स्मरण, अनुमान आदि का साम्य देकर छोटा नहीं बनाना चाहिये ! किन्तु लौकिक कार्य-कारण के अनुमानादि से संस्कृतहृदय व्यक्ति (काव्य-नाट्य गत) विभावादिकों को तटस्थ रूप से नहीं स्वीकार करता, अपितु हृदय की एकानुभूति रूप सहृदयत्व की भावना से परवश होकर (रसास्वाद लेता है); जिस परवशता का तन्मय होने में उचित चर्वणा ही प्राणरूप है, जो

लोचन

यीभवनोचितचर्वणाप्राणतया। न चासौ चर्वणा प्रमाणान्तरतो जाता पूर्वं, येनेदानीं स्मृतिः स्यात्। न चाधुना कुतश्चित्प्रमाणान्तरादुत्पन्ना, अलौकिके प्रत्यक्षाद्यव्यापारात्। अत एवालौकिक एव विभावादिव्यवहारः। यदाह—'विभावो विज्ञानार्थः' लोके कारणमेवाभिधीयते न विभावः। अनुभावोऽप्यलौकिक एव। 'यदयमनुभावयति वागङ्गसत्त्वकृतोऽभिनयस्तस्मादनुभाव' इति। तच्चित्तवृत्तितन्मयीभवनमेव ह्यनुभवनम्। लोके तु कार्यमेवोच्यते नानुभावः। अत एव परकीया न चित्तवृत्तिर्गम्यत इत्यभिप्रायेण 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति सूत्रे स्थायिग्रहणं न कृतम्।

रश्मि

(चर्वणा) कि पूर्ण होने वाले रसास्वाद के अङ्कुर रूप में स्थित है, (वह रसास्वाद लेने वाला सहृदय) अनुमान, स्मृति आदि की पद्धति का अवलम्बन नहीं करता। और यह चर्वणा पहले किसी दूसरे प्रमाण से भी नहीं उत्पन्न हुई थी, जो इसे स्मृति कहा जाए—(वह तो जब-जब विभावादिक सामने आएँगे तब-तब आस्वादित होगी—न स्मृति द्वारा उसका आस्वादन हो सकता है, न किसी अन्य प्रमाण से वह उत्पन्न हो सकती है।) और न वह अभी ही किसी (काव्य-नाट्य गत उन विभावादि प्रमाणों से) अन्य किसी प्रमाण से उत्पन्न हुई है, क्योंकि अलौकिक (लोकव्यवहार से इतर काव्यजगत् की वस्तु) में प्रत्यक्षादि का व्यापार नहीं चलता। अतएव विभावादि का व्यवहार लोक में नहीं होता है (केवल काव्य नाट्य में ही होता है।) जैसा कि (भरत मुनि ने) कहा है—"(स्थायी तथा व्यभिचारी का) ज्ञान कराने में जो निमित्त है वही (प्रमदोद्यानादि) विभाव है।" यह लोक में कारण कहलाता है, विभाव नहीं। अनुभाव भी लोक का विषय नहीं है। "वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक अभिनय, स्थायी और सञ्चारी आदि भावों को (सहृदयों को) अनुभावित करता है अतः वह 'अनुभाव' कहलाता है।" उन स्थायी, सञ्चारी आदि चित्तवृत्तियों के साथ (सहृदय सामाजिक का हृदय-संवाद रूप) तन्मयीभवन ही 'अनुभवन' है। इसे लोकव्यवहार में कार्य (या चेष्टा) कहते हैं, अनुभाव नहीं। इसीलिए, अर्थात् दूसरे की चित्तवृत्ति का अनुमान नहीं, अपितु अपनी ही चित्तवृत्ति का अनुभव सामाजिक करता है—इसी अभिप्राय से भरत मुनि ने अपने इस सूत्र में कि "विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है"—स्थायिभाव का ग्रहण नहीं किया है। यदि करते तो वह प्रस्तुत (अपने ही

लोचन

तत्प्रत्युत शल्यभूतं स्यात् । स्थायिनस्तु रसीभाव औचित्यादुच्यते, तद्विभावानुभावोचितचित्तवृत्तिसंस्कारसुन्दरचर्वणोदयात् । हृदयसंवादोपयोगिलोकचित्तवृत्तिपरिज्ञानावस्थायामुद्यानपुलकादिभिः स्थायिभूतरत्याद्यवगमाच्च । व्यभिचारी तु चित्तवृत्त्यात्मत्वेऽपि मुख्यचित्तवृत्तिपरवश एव चर्व्यत इति विभावानुभावमध्ये गणितः । अत एव रस्यमानताया एषैव निष्पत्तिः, यत्प्रबन्धप्रवृत्तबन्धुसमागमादिकारणोदितहर्षादिलौकिकचित्तवृत्तिन्यग्भावेन चर्वणारूपत्वम् । अतश्चर्वणात्राभिव्यञ्जनमेव, न तु ज्ञापनम्,

रश्मि

लिए) शल्यस्वरूप हो जाता । स्थायी भाव का रस बनना तो इसलिए कहा जाता है कि वही उचित रूप से रस बनता ही है—वही रस बनने योग्य है—वह औचित्य इस प्रकार का है—उस (परगत स्थायिभाव-विशेष) से नियत रूप से सम्बन्धित (काव्य में वर्णित) जो विभाव और अनुभाव, उनसे सम्बन्धित (सहृदय की) उसी चित्तवृत्ति का जो संस्कार, उसके (उद्बोध) द्वारा सुन्दर चर्वणा का होना । और (स्थायी का ही रस बनना इसलिए भी है कि) हृदयसंवाद के लिए उपयोगी जो लोक-चित्तवृत्ति का बोध है उस बोध की दशा में उद्यानादि कारणों तथा पुलकादि कार्यों से स्थायी–भूत रत्यादि का ही अवगमन होता है । (फिर उस विशिष्ट स्थायी में नियत विभावानुभावों के अनुकूल चित्तवृत्ति के संस्कार द्वारा सुन्दर चर्वणा के उदय होने से स्थायी का रसन हो जाता है ।) विभावानुभावों के साथ चित्तवृत्तिरूप होते हुए भी व्यभिचारी का (जो चर्वणीय होने के कारण स्थायी की भाँति नहीं गिना जाना चाहिए था) परिगणन इसलिए किया गया है, क्योंकि उसकी चर्वणा, मुख्य चित्तवृत्ति के परवश होकर ही होती है । अतएव रस्यमानता की यही निष्पत्ति है, कि बन्धुसमागमादि कारणों के काव्य में वर्णित होने पर, उनसे लोक में उत्पन्न होने वाली हर्षादिक चित्तवृत्ति का गुणीभाव होकर, यहाँ उस चित्तवृत्ति की चर्वणा होती है—वही निष्पत्ति है* अतः (अर्थात् लौकिक चित्तवृत्ति से, जिसकी कि उत्पत्ति होती है, भिन्न इस रस्यमान-चित्तवृत्ति के होने के कारण,) (रसविषयक) चर्वणा यहाँ अभिव्यञ्जन

*अर्थात् निष्पत्ति चर्वणा की होती है, रस की नहीं । अभिनवभारती में इसी बात को इस प्रकार स्फुट रूप से कहा गया है—"कथं तर्हि सूत्रे निष्पत्तिः इति । नेयं रसस्य, अपि तु तद्विषयरसनायाः ; तन्निष्पत्त्या यदि तदेकायत्त जीवितस्य रसस्य निष्पत्तिरुच्यते, न कश्चिदत्र दोषः ।"

लोचन

प्रमाणव्यापारवत् । नाप्युत्पादनम्, हेतुव्यापारवत् ।

ननु यदि नेयं ज्ञप्तिर्न वा निष्पत्तिः, तर्हि किमेतत् ? नन्वयमसावलौकिको रसः । ननु विभावादिरत्र किं ज्ञापको हेतुः, उत कारकः ? न ज्ञापको न कारकः ; अपि तु चर्वणोपयोगी । ननु क्वैतद्दृष्टमन्यत्र । यत एव न दृष्टं तत एवालौकिकमित्युक्तम् । नन्वेवं रसोऽप्रमाणं स्यात् ; अस्तु, किं ततः ? तच्चर्वणात एव प्रीतिव्युत्पत्तिसिद्धेः किमन्यदर्थनीयम् । नन्वप्रमाणकमेतत् ; न, स्वसंवेदनसिद्धत्वात् । ज्ञानविशेषस्यैव चर्वणात्मत्वात् इत्यलं बहुना । अतश्च रसोऽयमलौकिकः । येन ललितपरुषानुप्रासस्यार्था-

रश्मि

ही है, प्रमाणादि (प्रत्यक्षादि) के व्यापार की भाँति ज्ञापन नहीं । और न समवायादि कारण व्यापार के समान, वह उत्पादन ही है ।*१

अब प्रश्न उठता है कि यदि यह रसचर्वणा न ज्ञप्तिरूपा है और न निष्पत्तिरूपा, तब फिर आखिर यह है क्या ? उत्तर देते हैं कि क्यों रस तो अलौकिक है न ! पुनः प्रश्न होता है कि क्या विभावादि, रसचर्वणा के ज्ञापक-हेतु हैं, या कारक हेतु ? उत्तर है कि न तो वे ज्ञापक हैं और न कारक ही, अपितु वे चर्वणोपयोगी हेतु हैं । यदि यह प्रश्न किया जाये कि ऐसा (इस प्रकार का अद्‌भुत हेतु) अन्यत्र कहाँ दिखाई पड़ता है ? तो उत्तर है कि चूँकि यह लोक में अन्यत्र नहीं दिखाई देता इसीलिए तो अलौकिक कहा गया है । यदि कोई कहे कि 'इस प्रकार तो रस की सत्ता ही अप्रमाणित हो जायगी,' तो इससे क्या ?) अर्थात् रस की सत्ता के लिए हम प्रमाण चाहते ही कहाँ हैं ?) रस की चर्वणा होने से ही प्रीति (आनन्द) की व्युत्पत्ति की सिद्धि हो ही जायगी फिर और (हम ध्वनिवादियों को) चाहिए ही क्या ? यदि यह शङ्का करें कि यह (अर्थात् इस प्रकार की चर्वणा तथा उससे प्रीति व्युत्पत्ति आदि सब) प्रमाण रहित है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि यह तो स्वानुभवसिद्ध है । ज्ञान-विशेष ही चर्वणास्वरूप है ।*२ (अतः अन्य प्रमाण की क्या आवश्यकता ?—'ज्ञानं स्वतः प्रमाणम्' यह सिद्धान्त है ही ।) और इसलिए भी रस अलौकिक है, क्योंकि अर्थ के अभिधान में

---

*१ बालप्रियाकार के शब्दों में—"यथा प्रमाणानामिन्द्रियादीनां ज्ञापनं व्यापारः, यथा वा दण्डचक्रादीनामुत्पादनं व्यापारस्तथा विभावादीनां न ज्ञापनं न वा उत्पादनं व्यापार इत्यर्थः ।"

*२ अभिनवभारती में इस पर इस प्रकार कहा है :—"रसना च बोधरूपैव, किन्तु बोधान्तरेभ्यो विलक्षणैव, उपायानां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यादिति ।"

लोचन

भिन्नानानुपयोगिनोऽपि रसं प्रति व्यञ्जकत्वम् ; का तत्र लक्षणायाः शङ्कापि ? काव्यात्मकशब्दनिष्पीडनेनैव तच्चर्वणा दृश्यते । दृश्यते हि तदेव काव्यं पुनः पुनः पठंश्चर्वमाणश्च सहृदयो लोकः , न तु काव्यस्य तत्र 'उपादायापि ये हेया' इति न्यायेन कृतप्रतीतिकस्यानुपयोग एवेति शब्दस्यापीह ध्वननव्यापारः । अत एवालक्ष्यक्रमता । यत्तु वाक्यभेदः स्यादिति केनचिदुक्तम् , तदनभिज्ञतया । शास्त्रं हि सकृदुच्चारितं समयबलेनार्थं प्रतिपादयद्युगपद्विरुद्धानेकसमयस्मृत्ययोगात्कथमर्थद्वयं प्रत्याययेत् । अविरुद्धत्वे वा तावानेको वाक्यार्थः स्यात् । क्रमेणापि विरम्यव्यापारायोगः । पुनरुच्चारितेऽपि वाक्ये स

रश्मि

अनुपयोगी होने पर भी ललितपरुषादि अनुप्रासों का रस के प्रति व्यञ्जकत्व होता है; ऐसे स्थल पर (जहाँ वाच्यार्थ ही नहीं पूछा जाता) लक्षणा की शङ्का भी कहाँ ? काव्यात्मक शब्द के निष्पीडन द्वारा ही रस की चर्वणा दिखाई देती है। सहृदयजन उसी काव्य को बार बार पढ़ते और आस्वादन लेते हुए दिखाई देते हैं। इस प्रकार काव्यशब्द का, " उपयोग करके जिन्हें त्याग दिया जाता है (वे उपाय हैं)"— इस नीति के अनुसार, प्रतीति हो चुकने पर भी अनुपयोग नहीं होता (अपितु उस काव्यशब्द का भी उपयोग होता है) अतः शब्द का भी ध्वनन-व्यापार होता है। इसीलिए कहा है कि रस-प्रतीति में क्रम अलक्ष्य रहता है (क्योंकि अर्थ के अभिधान की अपेक्षा करने पर तो क्रम संलक्षित हो जाएगा, और यहाँ केवल शब्दों के द्वारा ही झटिति रस की प्रतीति हो जाती है ।) किसी ने जो यह आक्षेप किया है कि वाच्य और व्यङ्ग्यरूपी दो अर्थों के बोधक होने से काव्य में दो वाक्य मानने चाहिएँ—तो यह उसकी अनभिज्ञता के कारण है। क्योंकि यदि शास्त्र-वाक्य को एक बार कहा जाए तो वह सङ्केत के बल से अर्थ को बताते हुए, (अपने में) एक साथ ही विरुद्ध आश्रय वाले, एक से अधिक सङ्केतों की स्मृति का योग न होने के कारण, कैसे दो अर्थों का अवगमन कराएगा ? और यदि विरोध न मानें (अर्थात् भिन्न प्रकार के दो अर्थ एक साथ न मानें) तो उसका एक ही वाक्यार्थ होना चाहिए। (क्रम से भिन्न अर्थों की सत्ता मानने पर तो) विराम करके पुनः शब्द-व्यापार प्रवृत्त होता ही नहीं। और यदि वाक्य का पुनरुच्चारण

लोचन

एव, समयप्रकरणादेस्तादवस्थ्यात् । प्रकरणसमयप्राप्यार्थतिरस्कारेणार्थान्तरप्रत्यायकत्वे नियमाभाव इति तेन "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः" इति श्रुतौ खादेच्छ्वमांसमित्येष नार्थ इत्यत्र का प्रमेति प्रसज्यते । तत्रापि न काचिदियत्तेत्यनाश्वासता इत्येवं वाक्यभेदो दूषणम् । इह तु विभावाद्येव प्रतिपाद्यमानं चर्वणाविषयतोन्मुखमिति समयाद्युपयोगाभावः । न च नियुक्तोऽहमत्र करवाणि, कृतार्थोऽहमिति शास्त्रीयप्रतीतिसदृशमदः । तत्रोत्तरकर्तव्यौन्मुख्येन लौकिकत्वात् । इह तु विभावादिचर्वणाद्भुतपुष्पवत्तत्कालसारैवोदिता न तु पूर्वापरकालानुबन्धिनीति लौकिकादास्वादाद्योगिविषयाच्चान्य एवायं रसास्वादः । अत एव 'शिखरिणि' इत्यादावपि मुख्यार्थबाधादिक्रममनपेक्ष्यैव

रश्मि

करें तो भी वही एक अर्थ होगा, क्योंकि सङ्केत और प्रकरण वही हैं। और यदि प्रकरण तथा सङ्केत से प्राप्त होने वाले अर्थ का तिरस्कार करें तो दूसरे अर्थ का प्रत्यायन कराने में कोई नियम ही न होगा; तथा फिर इस प्रकार 'स्वर्ग के इच्छुक को अग्निहोत्र यज्ञ करना चाहिए'--इस श्रुति- वाक्य का 'कुत्ते का माँस खाना चाहिए' ऐसा अर्थ न करने में क्या प्रमाण हो सकता है। इस प्रकार के दूसरे अर्थ करने में भी कोई सीमा अथवा व्यवस्था नहीं होगी, अतः (एक से अधिक अर्थ मानने पर) वाक्य- भेद मानने में दोष है। काव्यवाक्य में तो विभावादि का ही प्रतिपादन सीधे रसादि आस्वादन की ओर उन्मुख हो जाता है अतः रसप्रतीति में सङ्केतादि का उपयोग होता ही नहीं। *

और, 'मैं नियुक्त किया गया हूँ,' 'मैं करूँ', और 'मैं कर चुका'—इस प्रकार की शास्त्रीय प्रतीतियों के समान काव्यवाक्य की रसप्रतीति नहीं होती है, क्योंकि शास्त्रजन्यप्रतीति औत्तरकालिक कर्तव्य की ओर उन्मुख होती है अतएव उसमें लौकिकता होती है। और काव्य में रसप्रतीति, ऐन्द्रजालिक के पुष्प के समान, विभावादि की चर्वणा-पर्यन्त ही रहती है, और वह पहले या बाद में भी नहीं होती,— इस प्रकार लौकिकास्वाद से और योगियों के विषय से भी भिन्न यह रसास्वाद होता है। अतएव 'शिखरिणि' इत्यादि श्लोक में भी मुख्यार्थबाधा आदि क्रमों की

---

*"काव्ये विभावाद्यर्थबोधे एव समयप्रकरणादेरुपयोगः, विभावादिबोधानन्तरं च विभावादेरेव नियामकान्नियतरसादिव्यङ्ग्यप्रतीतिः । अतश्च तां प्रति समयादेरनपेक्षणेऽपि नान्यवस्थितार्थकत्वेन दोष इति भावः ।"—बालप्रिया ।

कस्यचिद्ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम् ।

सा पुनर्भक्तिर्वक्ष्यमाणप्रभेदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षणतया सम्भाव्येत; यदि च गुणवृत्त्यैव ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्यते तदभिधाव्यापारेण

लोचन

सहृदया वक्त्रभिप्रायं चाटुप्रीत्यात्मकं संवेदयन्ते । अत एव ग्रन्थकारः सामान्येन विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ भक्तेरभावमभ्यधात् । अस्माभिस्तु दुरुर्ढं प्रत्याययितुमुक्तम्–भवत्वत्र लक्षणा, अलक्ष्यक्रमे तु कुपितोऽपि किं करिष्यसीति । यदि तु न कुप्यते 'सुवर्णपुष्पां' इत्यादावविवक्षितवाच्येऽपि मुख्यार्थबाधादिलक्षणासामग्रीमनपेक्ष्यैव व्यङ्ग्यार्थविश्रान्तिरित्यलं बहुना । उपसंहरति—तस्माद्भक्तिरिति ॥१८॥

ननु मा भूद्ध्वनिरिति भक्तिरिति चैकं रूपम् । मा च भूद्भक्तिर्ध्वनेर्लक्षणम् । उपलक्षणं तु भविष्यति; यत्र ध्वनिर्भवति, तत्र भक्तिरप्यस्तीति भक्त्युपलक्षितो ध्वनिः । न तावदेतत्सर्वत्रास्ति, इयता च किं परस्य सिद्धं ? किं वा नः त्रुटितं ? इति तदाह—कस्य-

रश्मि

अपेक्षा न करते हुए ही सहृदय, चाटुप्रीत्यात्मक वक्ता के अभिप्राय को जान लेते हैं। अतएव ग्रन्थकार आनन्दवर्द्धन ने सामान्य रूप से, विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में भक्ति का अभाव कह दिया है। हमने तो दुर्जन को तोष-मात्र देने के लिए कह दिया था कि—'अच्छा, यहाँ भी लक्षणा मान ली जाए।' परन्तु असंलक्ष्यक्रम ध्वनि में तो कुपित होकर भी तुम क्या कर सकते हो (क्योंकि वहाँ तो किसी प्रकार भी लक्षणा का सद्भाव ही नहीं हो सकता।) यदि आप नहीं क्रोध करते, तो (सुनिए) हम (तो) यह भी कहेंगे कि 'सुवर्णपुष्पाम्' इत्यादि अविवक्षितवाच्य-ध्वनि में भी मुख्यार्थबाधादि लक्षणा की सामग्री की अपेक्षा के बिना ही व्यङ्ग्यार्थ में ही (सहृदय की बुद्धि की) विश्रान्ति होती है । अस्तु, अब अधिक न कहेंगे। अतः वृत्तिकार उपसंहार करते हैं :—तस्माद्भक्तिरलक्षणम् इति ॥१८॥

अब पूर्वपक्षी यह कहता है कि अच्छा ध्वनि और भक्ति एक ही वस्तु न हों, और न ही भक्ति, ध्वनि का लक्षण हो, परन्तु फिर भी भक्ति ध्वनि का उपलक्षण तो अवश्य होगी, अर्थात् जहाँ ध्वनि है वहाँ भक्ति भी है—इस प्रकार भक्ति से ध्वनि उपलक्षित हो गई। इसका उत्तर (सिद्धान्त रूप से) देते हैं कि सर्वत्र तो भक्ति का उपलक्षण रहता नहीं, और इतने (भक्ति को ध्वनि का उपलक्षण मानने) से आपका क्या बना, और हमारा क्या बिगड़ा ? इसलिए कहा है—कस्यचिदित्यादि। (भाक्तवादी

तदितरोऽलङ्कारवर्गः समग्र एव लक्ष्यत इति प्रत्येकमलङ्काराणां लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्गः। किञ्च—

लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः ॥१९॥

कृतेऽपि वा पूर्वमेवान्यैर्ध्वनिलक्षणे पक्षसंसिद्धिरेव नः; यस्माद्ध्वनिरस्तीति नः पक्षः। स च प्रागेव संसिद्ध इत्ययत्नसम्पन्नसमीहितार्थाः संवृत्ताः

लोचन

चिदित्यादि। ननु भक्तिस्तावच्चिरन्तनैरुक्ता, तदुपलक्षणमुखेन च ध्वनिमपि समग्रभेदं लक्षयिष्यन्ति ज्ञास्यन्ति च। किं तल्लक्षणेनेत्याशङ्क्याह—यदि चेति। अभिधानाभिधेयभावो ह्यलङ्काराणां व्यापकः; ततश्चाभिधावृत्ते वैयाकरणमीमांसकैर्निरूपिते कुत्रेदानीमलङ्कारकाराणां व्यापारः। तथा हेतुबलात्कार्यं जायत इति तार्किकैरुक्ते किमिदानीमीश्वरप्रभृतीनां कर्तॄणां ज्ञातॄणां वा कृत्यमपूर्वं स्यादिति सर्वो निरारम्भः स्यात्। तदाह—लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्ग इति। मा भूद्वाऽपूर्वोन्मीलनं पूर्वोन्मीलितमेवास्माभिः सम्यङ्निरूपितं तथापि को दोष इत्यभिप्रायेणाह–किं चेत्यादि। प्रागेवेति। अस्मत्प्रयत्नादिति शेषः। एवं त्रिप्रकारमभाववादं, भक्त्यन्तर्भूततां च निराकुर्वता अलक्षणीयत्वमेतन्मध्ये निराकृत-

रश्मि

प्रश्नकर्त्ता पुनः कहता है कि) भक्ति के विषय में तो प्राचीन विद्वानों ने कहा ही है अतः उसी को उपलक्षण मानकर ध्वनि के भी समग्र भेदों का लक्षण कर लेंगे और जान लेंगे—फिर ध्वनि के लक्षण की क्या आवश्यकता ?—ऐसी शङ्का करके कहते हैं—यदि चेति। अलङ्कारों का अभिधान-अभिधेय सम्बन्ध तो व्यापक है ही (अर्थात् सभी अलङ्कार अभिधा के विषय तो हैं हीं)। तब फिर वैयाकरण और मीमांसकों के द्वारा अभिधा-व्यापार का निरूपण कर देने पर अलङ्कारकर्त्ताओं का क्या काम रह जाता है ? तथा, 'हेतु के बल पर कार्य होता है'—नैयायिकों द्वारा इस सिद्धान्त के प्रतिपादन कर देने पर पुनः ईश्वर आदि कर्त्ताओं तथा ज्ञाताओं का क्या नया कार्य रह जाता है—इस प्रकार तो सभी कर्तृ-ज्ञातृ वर्ग का आरम्भ ही व्यर्थ हो जाएगा ! इसीलिए कहा है—लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्ग इति। ध्वनिवादी कहता है कि अच्छा हमने ध्वनि का कोई अपूर्व उन्मीलन न किया हो परन्तु पहले से ही उन्मीलित ध्वनि का भली प्रकार निरूपण किया है, फिर भी इसमें क्या दोष ?—इसी अभिप्राय से कहते हैं – किं चेत्यादि। प्रागेवेति। अर्थात् हमारे प्रयत्न से पहले ही। इस प्रकार तीन प्रकार के अभाववाद को, तथा भक्ति में ध्वनि के अन्तर्भाव को निराकृत करते हुए, ध्वनि की अलक्षणीयता का

स्मः । येऽपि सहृदयहृदयसंवेद्यमनाख्येयमेव ध्वनेरात्मानमाम्नासिषुस्तेऽपि न परीक्ष्य वादिनः । यत उक्तया नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्यविशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्येयत्वं तत्सर्वेषामेव वस्तूनां तत्प्रसक्तम् । यदि पुनर्ध्व-

लोचन

मेव । अत एव मूलकारिका साक्षात्तन्निराकरणार्था न श्रूयते । वृत्तिकृत्तु निराकृतमपि प्रमेयशय्यापूरणाय स्वकण्ठेन तत्पक्षमनूद्य निराकरोति—येऽपीत्यादिना । उक्तया नीत्या 'यत्रार्थः शब्दो वा' इति सामान्यलक्षणं प्रतिपादितम् । वक्ष्यमाणया तु नीत्या विशेषलक्षणं भविष्यति 'अर्थान्तरे सङ्क्रमितं' इत्यादिना । तत्र प्रथमोद्द्योते ध्वनेः सामान्यलक्षणमेव कारिकाकारेण कृतम् । द्वितीयोद्द्योते कारिकाकारोऽवान्तरविभागं विशेषलक्षणं च विदधद-नुवादमुखेन मूलविभागं द्विविधं सूचितवान् । तदाशयानुसारेण तु वृत्तिकृदत्रैवोद्द्योते मूलविभागमवोचत्—'स च द्विविधः' इति । सर्वेषामिति । लौकिकानां शास्त्रीयाणां

रश्मि

निराकरण स्वयं ही हो गया । अतएव इस (अलक्षणीयतावाद) का निराकरण करने वाली कोई साक्षात् मूलकारिका नहीं कही गई । वृत्तिकार ने अपनी ओर से, (यद्यपि उस अलक्षणीयतावाद का इस तरह से अर्थतः) निराकरण हो गया था फिर भी प्रमेय (प्रतिपाद्यविषय) के सन्निवेश-क्रम को पूर्ण करने के लिए, उस (अलक्षणी-यतावाद) पक्ष को उद्धृत करके उसका निराकरण किया है—येऽपीत्यादिना । 'उक्तया नीत्या' अर्थात् 'यत्रार्थः शब्दो वा'–इत्यादि कारिका में ध्वनि का सामान्यलक्षण कह दिया गया है । (द्वितीय आदि उद्योत में) वक्ष्यमाण नीति से विशेष-लक्षण कहेंगे—'अर्थान्तरे सङ्क्रमितम्' इत्यादि के द्वारा । प्रथम उद्योत में कारिकाकार ने ध्वनि का केवल सामान्यलक्षण ही कहा है । द्वितीय उद्योत में कारिकाकार ने ध्वनि के अवान्तरभेद तथा विशेषलक्षण बताते हुए, कही बात को कहने रूप से, उसके मूलतः दो भेद दिखाए हैं—अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य ।❀

❀इस 'अनुवाद' अंश की कौमुदीकार ने इस प्रकार व्याख्या की है— "अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् । अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम् ।" इति कारिकयावान्तरविभागः नाम्नोऽन्वर्थतया विशेषलक्षणं च विहितम् । तत्र च अविवक्षित-वाच्यस्येत्ययमंशोऽनुवादरूपः, योऽयमविवक्षितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्ययोर्मध्येऽविवक्षित-वाच्यो नाम प्रभेदस्तस्येत्येवं वचनव्यक्तिसमुन्मेषात् ; तेन च प्रथमोद्योत एव सामान्यल-क्षणवन्मूलविभागस्यापि तत्सन्निधावेव प्रसिद्धतां कारिकाकारोऽभिसंहितवानेवेत्यव-गच्छामः, पूर्वत्रासिद्धस्य पश्चादनुवादासम्भवात् ; तदभिप्रायप्रदर्शनार्थोऽयं वृत्तिकृतोऽत्र द्वैविध्योपन्यास इति नासङ्गतिरित्यर्थः ।

नेरतिशयोक्त्यानया काव्यान्तरातिशायि तैः स्वरूपमाख्यायते तत्तेऽपि युक्ताभिधायिन एव ॥

लोचन

चेत्यर्थः । अतिशयोक्त्येति । यथा 'तान्यक्षराणि हृदये किमपि स्फुरन्ति' इतिवदतिशयोक्त्यानाख्येयतोक्ता साररूपतां प्रतिपादयितुमिति दर्शितमिति शिवम् ॥१६॥

किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि ।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात् ॥
यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात् ।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम् ॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तोन्मीलिते
सहृदयालोकलोचने ध्वनिसङ्केते
प्रथम उद्योतः ॥

रश्मि

इसी आशय के अनुसार वृत्तिकार ने इसी उद्योत में ध्वनि के मूलतः दो भेदों को कह दिया है 'स च' इत्यादि के द्वारा । सर्वेषामिति । अर्थात् सभी लौकिक और शास्त्रीय वस्तुओं को । अतिशयोक्त्येति । जैसे "मृगनयनी के वे अक्षर आज भी मेरे हृदय में कुछ अनिर्वचनीय रूप से स्फुरित हो रहे हैं"—इस उदाहरण के समान, यदि ध्वनि की अतिशयोक्ति रूप से अलक्षणीयता कही गई है तब तो यह उसकी उत्कृष्ठरूपता को ही प्रतिपादित करने के लिए है, यह दिखाया है । शिवमस्तु ॥१६॥

"'चन्द्रिका' युक्त होकर भी 'आलोक' 'लोचन' के बिना किस काम का ? अतः अभिनवगुप्त ने इस 'आलोक' के विषय में 'लोचन' का उद्घाटन किया ॥१॥ जिसके उन्मीलन से क्षण में ही विश्व उन्मीलित हो जाता है, उस स्वात्म में स्थित प्रतिभा (ज्ञानात्मिका) रूप भगवती शिवा को मैं प्रणाम करता हूँ ॥२॥"

श्रीचण्डिकाप्रसादानां गुरूणां कृपया मया ।
लब्धोऽयं लोचने रश्मिः प्रीयतां तेन मे शिवा ॥
काशीनाथस्य च पितुः कमलाविद्ययोस्तथा ।
भगिन्योः सुप्रमोदाय रश्मिमाशाकरोन्मुदा ॥

—इति प्रथम उद्योतः—

परिशिष्ट

ध्वन्यालोककारिकासङ्ग्रहः

द्वितीय उद्योतः

अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम् ॥ १ ॥
असंलक्ष्यक्रमोद्योतः क्रमेण द्योतितः परः ।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः ॥ २ ॥
रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः ।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ॥ ३ ॥
वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम् ।
रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः ॥ ४ ॥
प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥ ५ ॥
तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥ ६ ॥
शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः ।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥ ७ ॥
शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् ।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥ ८ ॥
रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः ।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्योजो व्यवस्थितम् ॥ ९ ॥
समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति ।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥ १० ॥
श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः ।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः ॥ ११ ॥
तस्याङ्गानां प्रभेदा ये प्रभेदाः स्वगताश्च ये ।
तेषामानन्त्यमन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पने ॥ १२ ॥
दिङ्मात्रं तूच्यते येन व्युत्पन्नानां सचेतसाम् ।
बुद्धिरासादितालोका सर्वत्रैव भविष्यति ॥ १३ ॥

शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान् ।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ॥ १४ ॥
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम् ।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥ १५ ॥
रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥ १६ ॥
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः ।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम् ॥ १७ ॥
विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन ।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ॥ १८ ॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम् ।
रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥ १९ ॥
क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽस्यानुस्वानसन्निभः ।
शब्दार्थशक्तिमूलत्वात्सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः ॥ २० ॥
आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते ।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः ॥ २१ ॥
अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थः स प्रकाशते ।
यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद्व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः ॥ २२ ॥
शब्दार्थशक्त्या क्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः ।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालङ्कृतिर्ध्वनेः ॥ २३ ॥
प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः ।
अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः ॥ २४ ॥
अर्थशक्तेरलङ्कारो यत्राप्यन्यः प्रतीयते ।
अनुस्वानोपमव्यङ्ग्यः स प्रकारोऽपरो ध्वनेः ॥ २५ ॥
रूपकादिरलङ्कारवर्गो यो वाच्यतां श्रितः ।
स सर्वो गम्यमानत्वं बिभ्रद्भूम्ना प्रदर्शितः ॥ २६ ॥
अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते ।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः ॥ २७ ॥
शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वे न व्यवस्थितम् ।
तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः ॥ २८ ॥
व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तया ।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तिस्तदाश्रया ॥ २९ ॥

अलङ्कारान्तरव्यङ्ग्यभावे ध्वन्यङ्गता भवेत् ।
चारुत्वोत्कर्षतो व्यङ्ग्यप्राधान्यं यदि लक्ष्यते ॥ ३० ॥
यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रम्लिष्टत्वेन भासते ।
वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः ॥ ३१ ॥
अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स्खलद्गतेः ।
शब्दस्य स च न ज्ञेयः सूरिभिर्विषयो ध्वनेः ॥ ३२ ॥
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम् ।
यद्व्यङ्गस्याङ्गिभूतस्य तत्पूर्णं ध्वनिलक्षणम् ॥३३॥

तृतीय उद्योतः

अविवक्षितवाच्यस्य पदवाक्यप्रकाशता ।
तदन्यस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य च ध्वनेः ॥१॥
यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु ।
वाक्ये सङ्घटनायां च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते ॥२॥
शषौ सरेफसंयोगो ढकारश्चापि भूयसा ।
विरोधिनः स्युः श्रृङ्गारे तेन वर्णा रसच्युतः ॥३॥
त एव तु निवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा ।
तदा तं दीपयन्त्येव तेन वर्णा रसच्युतः ॥४॥
असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता ।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता ॥५॥
गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन्व्यनक्ति सा ।
रसान् तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ॥६॥
विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति ।
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा ॥७॥
एतद्यथोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम् ।
सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि छन्दोनियमवर्जिते ॥८॥
रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता ।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किञ्चिद्विभेदवत् ॥ ९ ॥

विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः ।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥ १० ॥
इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाननुगुणां स्थितिम् ।
उत्प्रेक्ष्याऽप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः ॥ ११ ॥
सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया ॥ १२ ॥
उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा ।
रसस्यारब्धविश्रान्तेरनुसन्धानमङ्गिनः ॥ १३ ॥
अलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम् ।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ॥ १४ ॥
अनुस्वानोपमात्मापि प्रभेदो य उदाहृतः ।
ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित् ॥ १५ ॥
सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः ।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ॥ १६ ॥
प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन्बन्द्धुमिच्छता ।
यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम् १७ ॥
विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः ।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ॥ १८ ॥
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम् ।
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम् ।
रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ॥ १९ ॥
विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम् ।
बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला ॥ २० ॥
प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने ।
एको रसोऽङ्गीकर्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता ॥ २१ ॥
रसान्तरसमावेशः प्रस्तुतस्य रसस्य यः ।
नोपहन्त्यङ्गितां सोऽस्य स्थायित्वेनावभासिनः ॥ २२ ॥
कार्यमेकं यथा व्यापि प्रबन्धस्य विधीयते ।
तथा रसस्यापि विधौ विरोधो नैव विद्यते ॥ २३ ॥
अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे ।
परिपोषं न नेतव्यस्तथा स्यादविरोधिता ॥ २४ ॥
विरुद्धैकाश्रयो यस्तु विरोधी स्थायिनो भवेत् ।
स विभिन्नाश्रयः कार्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता ॥ २५ ॥

एकाश्रयत्वे निर्दोषो नैरन्तर्ये विरोधवान् ।
रसान्तरव्यवधिना रसो व्यङ्ग्यः सुमेधसा ॥ २६ ॥
रसान्तरान्तरितयोरेकवाक्यस्थयोरपि ।
निवर्तते हि रसयोः समावेशे विरोधिता ॥ २७ ॥
विरोधमविरोधं च सर्वत्रेत्थं निरूपयेत् ।
विशेषतस्तु श्रृङ्गारे सुकुमारतमो ह्यसौ ॥ २८ ॥
अवधानातिशयवान्रसे तत्रैव सत्कविः ।
भवेत्तस्मिन् प्रमादो हि झटित्येवोपलक्ष्यते ॥ २९ ॥
विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा ।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति ॥ ३० ॥
विज्ञायेत्थं रसादीनामविरोधविरोधयोः ।
विषयं सुकविः काव्यं कुर्वन्मुह्यति न क्वचित् ॥ ३१ ॥
वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् ।
रसादिविषयेणैतत्कर्म मुख्यं महाकवेः ॥ ३२ ॥
रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः ।
औचित्यवान्यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः ॥ ३३ ॥
प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते ।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात्प्रकर्षवत् ॥ ३४ ॥
प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः ।
ये च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्यः सुमेधसा ॥ ३५ ॥
वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशानुगमे सति ।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ॥ ३६ ॥
मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ॥ ३७ ॥
अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते ।
सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता ॥ ३८ ॥
प्रभेदस्यास्य विषयो यश्च युक्त्या प्रतीयते ।
विधातव्या सहृदयैर्न तत्र ध्वनियोजना ॥ ३९ ॥
प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम् ।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥ ४० ॥
प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते ॥ ४१ ॥
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् ।

तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम् ॥ ४२ ॥
सगुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदः स्वैः ।
सङ्करसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्द्योतते बहुधा ॥ ४३ ॥
एवं ध्वनेः प्रभेदाः प्रभेदभेदाश्च केन शक्यन्ते ।
संख्यातुं दिङ्मात्रं तेषामिदमुक्तमस्माभिः ॥ ४४ ॥
इत्युक्तलक्षणो यो ध्वनिर्विवेच्यः प्रयत्नतः सद्भिः ।
सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं वा सम्यगभियुक्तैः ॥ ४५ ॥
अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम् ।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः ॥ ४६ ॥
शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चिदर्थतत्त्वयुजोऽपराः ।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे ॥ ४७ ॥

चतुर्थ उद्योतः

ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः ।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः ॥१॥
अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता ।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि ॥२॥
युक्त्याऽनयानुसर्तव्यो रसादिर्बहुविस्तरः ।
मितोऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्यमार्गो यदाश्रयात् ॥३॥
दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥४॥
व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि ।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान् ॥५॥
ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात् ।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः ॥६॥
अवस्थादेशकालादिविशेषैरपि जायते ।
आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः ॥७॥
अवस्थादिविभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम् ।
भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये तत्तु भाति रसाश्रयात् ॥८॥

रसभावादिसम्बद्धा यद्यौचित्यानुसारिणी।
अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादिभेदिनी ॥९॥
वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः।
निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव ॥१०॥
सम्वादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्।
नैकरूपतया सर्वे ते मन्तव्या विपश्चिता ॥११॥
संवादो ह्यन्यसादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत्।
आलेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम् ॥१२॥
तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम्।
तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्यसाम्यं त्यजेत्कविः ॥१३॥
आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि।
वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम् ॥१४॥
अक्षरादिरचनेव योज्यते यत्र वस्तुरचना पुरातनी।
नूतने स्फुरति काव्यवस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति ॥१५॥
यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्,
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्,
सुकविरुपनिबध्नन्निन्द्यतां नोपयाति ॥१६॥
प्रतायन्तां वाचो निमितविविधार्थामृतरसा
न सादः कर्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये।
परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती ॥१७॥